प्रधान–सम्पादक
यशदेव शल्य
मुकुंद लाठ

सम्पादक
अम्बिकादत्त शर्मा
प्रदीप कुमार खरे

उन्मीलन

मानसिक हिन्द स्वराज का वैतालिक
दार्शनिक षाण्मासिक

वर्ष 26, अंक 1
जनवरी, 2012

वर्ष 26 अंक 1 जनवरी, 2012

उन्मीलन

मानसिक हिन्दस्वराज का वैतालिक दार्शनिक षाण्मासिक

प्रधान-सम्पादक

यशदेव शल्य

मुकुन्द लाठ

सम्पादक

अम्बिकादत्त शर्मा

प्रदीप कुमार खरे

दर्शन प्रतिष्ठान

जयपुर

परामर्शदाता

1. रामजी सिंह, 104, सन्याल इन्क्लेव, बुद्धमार्ग, पटना–800001
2. अशोक वाजपेयी, सी–60, अनुपम को–ऑपरेटिव ग्रुप हाउसिंग सोसायटी, वसुन्धरा एन्क्लेव, दिल्ली–110096
3. रमेशचन्द्र शाह, एम. 4, निराला नगर, भदभदा रोड, भोपाल–462003
4. अशोक वोहरा, 21/4, कैवेलरी लाइन, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली–110007

प्रधान-सम्पादक

1. यशदेव शल्य, पी–51, मधुवन पश्चिम, किसान मार्ग, जयपुर–302015, दूरभाष 2707493
2. मुकुन्द लाठ, ए 37/38, विश्वामित्र मार्ग, श्याम नगर, अजमेर रोड, जयपुर–302006 दूरभाष 2294727/2293725

सम्पादक

1. अम्बिकादत्त शर्मा, सी.–37, गौर नगर, विश्वविद्यालय परिसर, सागर–470003 दूरभाष 07582–264587 मो. 09406519498
2. प्रदीप कुमार खरे, आर.बी. 72, इण्डस गार्डन, गुलमोहर, भोपाल–462039, दूरभाष 0755–2427461, मो. 09425029308

ISSN 0974 0053
UNMEELAN (Print)

वार्षिक शुल्क
व्यक्तिगत : रु. 50/–
संस्थाएं : रु. 100/–

आजीवन शुल्क
व्यक्तिगत : रु. 1000/–
संस्थाएं : रु. 5000/–

आजीवन/वार्षिक सदस्यता हेतु राशि ''प्रधान–सम्पादक – उन्मीलन'' के पक्ष में बैंक ड्राफ्ट (सागर, म.प्र. पर देय) निम्न पते पर भेजें – अम्बिकादत्त शर्मा, दर्शन विभाग, डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर–470003 (म.प्र.)

यशदेव शल्य, मुकुंद लाठ एवं अम्बिकादत्त शर्मा द्वारा दर्शन प्रतिष्ठान, पी–51 मधुवन पश्चिम, किसान मार्ग, जयपुर–302015 के लिए प्रकाशित।

अनुक्रमणिका

1. अद्वैतवादी दर्शनों का प्रस्थानमूलक वैशिष्ट्य : एक समसामयिक विमर्श — *अम्बिकादत्त शर्मा* 5

2. सामान्यलक्षणसन्निकर्ष : एक दार्शनिक अन्धविश्वास — *सच्चिदानन्द मिश्र* 29

3. भासर्वज्ञ सम्मत विपर्यय विमर्श — *अरुण मिश्र* 57

4. श्री अरविन्द का 'सिंथेसिस ऑफ योग': एक पुनरावलोकन — *रमेशचन्द्र शाह* 99

पुस्तक–समीक्षा

5. तांत्रिक शिवाद्वयवाद में इच्छा–स्वातंय तथा नियमनवाद' — *वरुण कुमार त्रिपाठी* 113

लाठ सर्वोदय ग्रंथमाला

1.	संगीत और चिन्तन (शंकर पुरस्कार से सम्मानित)	–	मुकुंद लाठ	100.00
2.	धर्म–संकट	–	मुकुंद लाठ	200.00
3.	कर्म–चेतना के आयाम	–	मुकुंद लाठ	250.00
4.	क्या है? क्या नहीं है?	–	मुकुंद लाठ	150.00
5.	मूल्यतत्त्व–मीमांसा (शंकर, मंगलाप्रसाद तथा मूर्त्तिदेवी पुरस्कारों से सम्मानित)	–	यशदेव शल्य	200.00
6.	चिद्विमर्श	–	यशदेव शल्य	175.00
7.	तत्त्व–चिन्तन	–	यशदेव शल्य	200.00
8.	चित् की आत्म–गवेषणा	–	यशदेव शल्य	250.00
9.	काव्य–विमर्श	–	यशदेव शल्य	250.00
10.	मुख्य भारतीय तथा पाश्चात्य दर्शन–धाराएं	–	यशदेव शल्य भगवती	150.00

अद्वैतवादी दर्शनों का प्रस्थानमूलक वैशिष्ट्य
एक समसामयिक विमर्श

अम्बिकादत्त शर्मा

अपने स्वरूप की खोज और गन्तव्य की जिज्ञासा भारतीय दर्शनों की मौलिक अभीप्सा रही है। भारतमूलीय प्रायः सभी आस्तिक–नास्तिक और निगमागमिक दर्शन इसी मूलभूत अभीप्सा के साथ प्रसूत हुए हैं। भारतीय परम्परा के सभी दर्शन इसी मूलभूत अभीप्सा का अपने–अपने तरीके से अवगाहन करते हुए पक्ष, विपक्ष और समानान्तर दृष्टियों के रूप में उस परम्परा के अंगभूत कहे जा सकते हैं। परंतु एक बात जो देखने लायक है वह यह कि भारतीय परम्परा के भेदवादी, बहुतत्त्ववादी और द्वैतवादी दर्शनों की अपेक्षा अद्वैतवादी प्रकार के दर्शनों में इस मौलिक अभीप्सा को अधिक दार्शनिक उत्कर्ष प्राप्त हुआ है। इसीलिए भारतीय दर्शन के क्षितिज पर अद्वैतवादी प्रकार के दर्शनों की प्रधानता और बाहुल्य शुरू से ही रहा है। मूलगामी रूप से औपनिषद् परम्परा में ब्रह्माद्वैत और उसके विभिन्न संस्करणों का विकास, महायान बौद्ध परम्परा में बुद्धवचनों के तात्पर्य को शून्याद्वैत और विज्ञानाद्वैत में देखा जाना, व्याकरण परम्परा में शब्दाद्वैत का प्रौढ़ प्रतिपादन तथा शैवागमीय परम्परा में स्वतंत्राद्वैत की पार्यन्तिक प्रतिष्ठा को इसके लिए प्रमाण रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है। इन सभी अद्वैतवादी प्रकार के दार्शनिक प्रवृत्तियों की प्रतिष्ठा स्वकीय परम्पराओं के अन्तर्गत एक–एक दार्शनिक धर्म के रूप में रही है। इतना ही नहीं, यहाँ तो साहित्यशास्त्र का पर्यवसान भी ब्रह्मानन्द सहोदर रूप से 'रसौ वै सः' में होता है। इन सबों ने मिलकर भारतीय संस्कृति की आत्म–प्रतिमा और विश्वदृष्टि को अपने–अपने तरीके से प्रभूत समृद्धि प्रदान किया है। विश्व इतिहास में भारत का आध्यात्मिक–दार्शनिक उत्कर्ष तथा विश्वजनीन सांस्कृतिक अभ्युदय की सम्भावना इन्हीं अद्वैतवादी प्रकार के दार्शनिक प्रवृत्तियों में गोपित है।

सेन्टर फॉर श्री अरविन्द स्टडिज, दर्शन विभाग, जादवपुर विश्वविद्यालय, कोलकाता में 'विजिटिंग फैकल्टी' के रूप में दिया गया व्याख्यान, फरवरी 2012

I

स्वसम्प्रदायोत्कर्ष वासना से वासित दृष्टि

यदि भारतीय दर्शन परम्परा के विकास की उपर्युक्त सच्चाई एक ऐतिहासिक तथ्य है तो इस आधारभूत प्रश्न से हम बच नहीं सकते कि भारतीय परम्परा के अद्वैतवादी दर्शनों और उनके बहुविध प्रारूपों की पारस्परिक समानता तथा प्रस्थामूलक वैशिष्ट्य को किस प्रकार समझा जाय। कहने को तो सभी 'वयं अद्वैतवादिनः' का उद्घोष करने में गर्व का अनुभव करते हैं और इससे भी आगे बढ़कर सभी अपने–अपने अद्वैतवाद को परात्पर कोटि का मानते हैं लेकिन उनके इस दावे का दार्शनिक निर्धारण उतना आसान भी नहीं, जितना कि यह उपरीतौर पर समझा जाता है। भारतीय दर्शन के वैसे पारम्परिक और आधुनिक अध्येता, जिन्होंने इस प्रश्न का सामना किया है, वे मोटे तौर पर इस समस्या को तीन तरीके से देखते रहे हैं। कुछ अध्येताओं ने भारतमूलीय अद्वैतवादी प्रकार के दर्शनों में मौलिक एकता को देखा है और उनके पारस्परिक भेदों को महज एक उपरी विचलन स्वीकार किया है। यह दृष्टि किसी एक अद्वैतवादी प्रस्थान और उसके अन्तर्गत के उपभेदों को समझने में तो उपयोगी हो सकती है लेकिन अद्वैतवाद के दो समानान्तर प्रस्थानों को समझना इस दृष्टि से कथमपि समीचीन नहीं हो सकता। पुनः कुछ अध्येताओं ने भारतीय परम्परा के अद्वैतवादी प्रकार के दर्शनों में प्रस्थानगत भेद और वैशिष्ट्य को ही मौलिक माना है और उनमें दिखाई पड़ने वाली समानता को आपातिक स्वीकार किया है। इस दृष्टि से अद्वैतवादी दर्शनों के समानान्तर प्रस्थानों को तो समझा जा सकता है लेकिन इसके समक्ष सबसे बड़ी दार्शनिक चुनौती अद्वैतवाद के न्यूनतम अनन्तर्भाव्य वैकल्पिक मूलाकृतियों के खोज की होती है।

भारतीय दर्शन के परम्परागत आचार्यों में सर्वदर्शन संग्रहकार 'माधवाचार्य' और अद्वैतसिद्धिकार 'मधुसूदन सरस्वती' ने इस समस्या को दूसरी तरह से देखा है। इन दोनों आचार्यों ने अद्वैतवेदान्त को प्रतिदर्श बनाकर समस्त भारतीय दर्शनों की योजनाबद्धता को अद्वैतवेदान्त की ओर बढ़ते हुए एक सोपानक्रम में निरूपित किया है। यद्यपि इस प्रकार की योजनाबद्धता के बीजभूत विचार सुरेश्वर वार्तिक में ही प्राप्त होते हैं लेकिन माधवाचार्य और मधुसूदन सरस्वती ने स्पष्ट रूप से अद्वैतवादी दर्शनों का चूड़ान्त स्वरूप अद्वैतवेदान्त में देखा है और अपने अपने तरीके से अन्य प्रकार

के अद्वैतवादी दर्शनों को अवरकोटि का माना है। विगत शताब्दी में स्वामी शंकर चैतन्य भारती ने 'दर्शन सर्वस्वम्' नामक अपनी कृति को परिनिष्ठित अद्वैतवाद के खोज में निरूपित किया है और शून्याद्वैत, विज्ञानाद्वैत तथा स्वतंत्राद्वैत का खण्डन करते हुए अनिर्वचनीयविवर्तवादी– अद्वैतवेदान्त को अद्वैतवाद का परात्पर स्वरूप स्वीकार किया है।

द्रष्टव्य है कि माधवाचार्य ने चार्वाक दर्शन से लेकर अद्वैतवेदान्त पर्यन्त षोड़श दर्शनों की एक आनुपूर्वी आत्मा की स्थूलता और सूक्ष्मता तथा कार्यकारण की अवधारणा को सन्दर्भ बनाकर प्रस्तुत की है। इस आनुपूर्वी में उन्होंने प्रत्यभिज्ञा दर्शन के 'स्वतंत्राद्वैत' को वैष्णव वेदान्त के दार्शनिक संस्करणों के अनन्तर और न्याय–वैशेषिक दर्शन के पूर्व में स्थान दिया है। ऐसा करते हुए स्पष्ट है कि माघवाचार्य को यही अभिप्रेत रहा होगा कि स्वतंत्राद्वैत अधिक से अधिक न्याय–वैशेषिक दर्शन के स्तर का है, क्योंकि इन दोनों ही दर्शनों में आत्मा को स्वभांवतः ज्ञाता, कर्त्ता और भोक्ता माना गया है। इस दृष्टि से सांख्य–योग दर्शन का दार्शनिक स्तर अपेक्षाकृत उच्चस्तर का माना जा सकता है, क्योंकि वह आत्मा को ज्ञाता, भोक्ता तो मानता है लेकिन उसके कर्त्ता होने को अमान्य करता है। अन्त में परात्पर कोटि का दर्शन वास्तव में अद्वैतवेदान्त है जो आत्मा को शुद्ध चैतन्य अर्थात् ज्ञानस्वरूप मानता है। कर्त्तृत्व, भोक्तृत्व और ज्ञातृत्व आत्मा के लक्षण नहीं बल्कि उपाधि रूप उपलक्षण मात्र हैं। इस प्रकार माघवाचार्य का लक्ष्य यह दिखाना था कि वही दर्शन परात्पर कोटि का परमार्थ दर्शन है जो निर्विकल्पक चित्त को परमतत्त्व मानता हो। अन्य सभी दर्शन उस तक पहुँचने के उत्तरोत्तर बढ़ते हुए सोपान हैं।

इसी तरह मधुसूदन सरस्वती ने शिवमहिम्नस्तोत्र की टीका करते हुए एवं ईश्वर प्रतिपत्तिप्रकाश तथा वेदान्तकल्पलतिका नामक अपनी महत्त्वपूर्ण कृतियों में भारतीय दर्शनों की श्रेणीबद्ध योजनाबद्धता को भिन्न आधारों पर (माघवाचार्य से भिन्न रूप में) प्रस्तुत किया है। अपनी योजनाबद्धता का चरम प्रतिदर्श उन्होंने भी अद्वैत वेदान्त को ही बनाया है लेकिन बौद्ध परम्परा के अद्वैतवादी सम्प्रदायों को इस योजना से बहिष्कृत ही रखा है। हाँ, स्वतंत्राद्वैत का मूल्यांकन करते हुए उन्होंने उसे न्याय–वैशेषिक दर्शन से उच्चस्तरीय और सांख्य–योग दर्शन के समस्तरीय माना है। इस निर्धारण के पीछे उनकी दृष्टि यह रही कि आरम्भवाद, परिणामवाद और विवर्तवाद ही कार्यकारण सिद्धान्त के तीन मूलभूत प्रारूप हैं और स्वतंत्राद्वैत सांख्य दर्शन की भांति

परिणामवाद को तो मानता है लेकिन आरम्भवाद और विवर्तवाद का खण्डन करता है। अतएव स्वतंत्राद्वैत वास्तव में आरम्भवाद और विवर्तवाद का मध्यपाती दर्शन है। मधुसूदन सरस्वती की दृष्टि में परिणामवाद का पर्यवसान विवर्तवाद में होता है अर्थात् वह परिणामवाद की परवर्ती भूमिका है। परिणामवाद कारण और कार्य में अव्यक्त–व्यक्त की स्थिति भेद को स्वीकार करता है जबकि विवर्तवाद उससे आगे बढ़कर कार्यकारण में अनन्यता प्रतिपादित करता है। अतः अद्वैतवेदान्त निश्चय ही उन दर्शनों से श्रेष्ठ दार्शनिक स्तर पर खड़ा है जो कार्य–कारण में अनन्यता के अतिरिक्त अन्य प्रकार का सम्बन्ध मानते हैं।

इस दृष्टि से स्वतंत्राद्वैत की प्रस्थिति और भूमिका सांख्य सम्मत प्रकृति परिणामवाद से कुछ भिन्न है लेकिन वह वैष्णव वेदान्तियों के ब्रह्मपरिणामवाद से मिलता जुलता है। वास्तव में यह शिव परिणामवाद है क्योंकि स्वतंत्राद्वैत मयुराण्डरस न्याय के आधार पर यह मानता है कि समस्त सृष्टि शिव में अव्यक्त रूप से विद्यमान है और समस्त सृष्टि शिव की ही अभिव्यक्ति है। इस तरह मधुसूदन सरस्वती इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि स्वतंत्राद्वैत का दार्शनिक स्तर वस्तुतः वैष्णव वेदान्त के समकक्ष है लेकिन दोनों ही अद्वैतवेदान्त की अपेक्षा अवरकोटि के दर्शन हैं।

अब यदि देखा जाय तो उपर्युक्त आचार्यों ने भारतीय दर्शनों की योजनाबद्धता दिखाने के बहाने अद्वैतवेदान्त की सर्वोपरि दार्शनिकता को जिस तरह से निरूपित किया है उसे निष्पक्ष दार्शनिक निर्धारण नहीं कहा जा सकता। सहि अर्थों में यह स्वसम्प्रदायोत्कर्ष पूर्वग्रह के साथ सुविधापेक्षी मानदण्डों के आधार पर किया गया निर्धारण है। इस रीति से अद्वैतवादी दर्शनों के दूसरे प्रकार भी स्वकीय सुविधापेक्षी निकषों के आधार पर अपनी–अपनी सर्वोत्कृष्टता प्रतिपादित कर सकते हैं। उदाहरण के लिए शून्याद्वैतवादी 'सर्वदृष्टिप्रहाण' रूप से, शुद्धाद्वैतवादी 'सर्वदृष्ट्यानुग्रह' रूप से और स्वतंत्राद्वैतवादी सत्, चित् और आनन्द में उत्तरोत्तर 'प्रकाश–विमर्श' रूप उत्कर्ष दिखाते हुए अपनी–अपनी उत्कृष्टता का हामी भर सकते हैं। वस्तुतः भारतीय दर्शनों अथवा अद्वैतवादी प्रकार के दर्शनों की श्रेणीबद्ध योजनाबद्धता प्रस्तुत करने का एक ही प्रारूप सम्भव नहीं, जैसा कि व्यक्त–अव्यक्त रूप से अद्वैत वेदान्तियों ने दिखाया है। पूज्य श्याममनोहर गोस्वामी ने भारतीय दर्शनों के विकास में योजनाबद्धता के सम्भावित नौ शास्त्रीय प्रारूपों को अन्वेषित किया है। इनमें कुछ तो साम्प्रदायिक वासना

से तटस्थ और व्यापक योजनाबद्धता को प्रस्तुत करते हैं लेकिन अधिकांश साम्प्रदायिक वासना से वासित अलग–अलग दार्शनिक निकायों की श्रेष्ठता प्रतिपादित करते हुए प्रतीत होते हैं।[1]

II

एक समसामयिक मौलिक पहल

अतः प्रकृत समस्या पर उपर्युक्त सिंहावलोकन से स्पष्ट है कि इस समस्या पर साम्प्रदायिक वासना से कथंचित् मुक्त होकर और अधिक मूलगामी रूप से विचार करने की आवश्यकता है। यदि सम्पूर्ण–भारतीय दार्शनिक सम्प्रदायों को लेकर नहीं तो कम से कम भारतीय परम्परा के अद्वैतवादी दर्शनों के अनतर्भाव्य प्रारूपों की खोज तो अवश्य की जानी चाहिए। इधर 20वीं–21वीं शताब्दी में प्रोफेसर के.सी. भट्टाचार्य, प्रोफेसर कालीदास भट्टाचार्य, प्रोफेसर टी.आर.वी. मूर्ति और प्रोफेसर ए.के. चटर्जी ने इस समस्या पर, परस्पर एक दूसरे का अनुगमन करते हुए, आधारभूत दार्शनिक दृष्टि से विचार किया है और अद्वैतवादी प्रकार के दर्शनों के तीन अनन्तर्भाव्य मौलिक प्रारूपों को खोजा है। भारत के विश्वविद्यालयीय व्यवस्था से निकले इन तीनों दार्शनिकों ने अद्वैतवादी प्रकार के दर्शनों के न केवल त्रिविध मौलिक विकल्पों को उद्घाटित किया है बल्कि अद्वैतवादी दर्शनों के भारतीय इतिहास पर इसे लागू करते हुए अधिकांश अद्वैतवादी दर्शनों का उन त्रिविध विकल्पों में सफलता पूर्वक समाहार भी दिखाया है।

द्रष्टव्य है कि इस मौलिक पहल की शुरूआत प्रोफेसर के.सी. भट्टाचार्य से होती है जब उन्होंने 'दी कॉन्सेप्ट ऑफ एब्सोल्यूट एण्ड इट्स अल्टरनेटिव फार्म्स' नामक आलेख लिखा और इदंप्रथमतया अद्वैतवाद के तीन वैकल्पिक प्रारूपों को सत्य (ट्रूथ), स्वातंत्र्य (फ्रीडम) और मूल्य (वैल्यू) के रूप में रेखांकित किया।[2] इसमें दो राय नहीं कि उनका यह विश्लेषण अत्यन्त ही मौलिक और उतना ही सारगर्भित है। परंतु उनकी लेखन शैली की निज विशेषताओं के कारण एक ओर यह अमूर्त और आकारिकता को लिये हुए है तो दूसरी ओर इस अन्तर्दृष्टि को अद्वैतवादी दर्शनों के ऐतिहासिक प्रारूपों पर उदाहरित नहीं किया गया है। बाद में प्रोफेसर टी.आर.वी. मूर्ति ने प्रोफेसर के.सी. भट्टाचार्य द्वारा इस विषय पर अमलनेर में दिये गये परवर्ती व्याख्यानों से सद्यः लाभान्वित होकर उसे आगे बढ़ाया। प्रोफेसर टी. आर.वी. मूर्ति ने 1934 में 'नोविंग, फिलिंग एण्ड विलिंग एज फंक्सन्स ऑफ

कॉन्शसनेस' नामक एक आलेख लिख कर एतद्विषयक प्रोफेसर के.सी. भट्टाचार्य के निहितार्थों को और अधिक स्पष्ट किया है। इस आलेख से यह बात पूरे तौर से स्पष्ट होती है कि अद्वैतवाद के वैकल्पिक त्रिविध प्रारूपों का तात्पर्य वास्तव में चेतना के त्रिविध आयामों से है। चेतना के ये त्रिविध आयाम ज्ञानात्मक (नोईंग), इच्छात्मक (विलिंग) और भावनात्मक (फिलिंग) रूप से अभिहित किये जा सकते हैं।[3] चेतना इन्हीं तीन वैकल्पिक आयामों के माध्यम से तीन रूपों में अपने परमत्व को प्राप्त होती है। प्रोफेसर टी.आर.वी. मूर्ति के इस लेख में चेतना के ज्ञानात्मक, इच्छात्मक और भावनात्मक परमत्व के प्रायः सभी गुण–सूत्र बखूबी दार्शनिक निष्ठा के साथ विवेचित हुए हैं फिर भी चेतना के परमत्व के तीनों विकल्पों का ऐतिहासिक ख्यापन और सत्यापन अभी भी अपेक्षित ही था। इस अपेक्षा को प्रोफेसर ए.के. चटर्जी ने प्रोफेसर टी.आर.वी. मूर्ति के सेन्टेनरी वर्ष के उपलक्ष्य में 'टाइप्स ऑफ एब्सोल्यूटिज्म : रीविजटेड' नामक आलेख लिख कर पूरा किया जो बाद में 'टाइप्स ऑफ एब्सोल्यूटिज्म : बुद्धिस्ट एण्ड नॉन–बुद्धिस्ट' शीर्षक से प्रकाशित हुआ है।[4]

अवधेय है कि प्रोफेसर के.सी. भट्टाचार्य और प्रोफेसर टी.आर.वी. मूर्ति दोनों ही अपने एतद्विषयक विश्लेषण को चेतना की आत्मनिष्ठ क्रिया में मूलित बताते हैं लेकिन उनका यह मूल इमानुएल काण्ट के संकाय मनोविज्ञान में स्वतः ही मूलित प्रतीत होता है। काण्ट अपने 'संकाय मनोविज्ञान' में ज्ञानात्मक चेतना, इच्छात्मक चेतना और भावात्मक चेतना को मन के त्रिविध विभागों के रूप में समझा था। परंतु प्रोफेसर टी.आर.वी. मूर्ति इस बिन्दु पर काण्ट की व्याख्या में मौलिक परिष्कार करते हुए ज्ञान, इच्छा और भावना को चेतना अथवा विषयी की विषयोन्मुख त्रिविध अभिवृत्ति के रूप में पहचाना है। इस परिष्कार के पीछे उनकी दृष्टि यह रही कि विषय–विषयी भाव का द्वैत आधारभूत ज्ञानमीमांसीय सम्बन्ध है जिसे तीन परस्पर व्यावर्त्तक तरीके से समझा जा सकता है। इसका एक प्रकार चेतना का ज्ञानात्मक प्रारूप है और इस प्रारूप में विषयी का कार्य यथा प्रदत्तविषय को यथावत प्रकाशित करना मात्र होता है। इसका दूसरा प्रारूप चेतना का इच्छात्मक प्रारूप है जिसमें विषयी अपनी अन्तर्वस्तु के रूप में विषय का निर्माण करती है। पुनः इसका तीसरा प्रकार चेतना के भावनात्मक रूप में प्राप्त होता है जहाँ विषय और विषयी का एक दूसरे पर किसी प्रकार का अधिशासन नहीं

होता बल्कि दोनों परस्पर तुल्य रूप में एक दूसरे के सम्मुख होते हैं। विषय–विषयी का ऐसा सम्मुखीकरण वास्तव में दोनों की युगनद्ध जैसी स्थिति होती है। अवधेय है कि विषयी की विषयोन्मुख इन तीनों अभिवृत्तियों के विश्लेषण को जब उनकी तार्किक परिणति तक पहुँचाया जाता है तो उसका पर्यवसान तीन प्रकार के अलग–अलग अद्वैतवादी दर्शनों में होता है। प्रोफेसर के.सी. भट्टाचार्य, प्रोफेसर टी.आर.वी. मूर्ति और प्रोफेसर ए.के. चटर्जी ने इन्हीं तीनों को अद्वैतवाद का ज्ञानात्मक, इच्छात्मक और भावनात्मक प्रारूप कहा है। यहाँ विशेष वक्तव्य यह है कि विषयी की विषयोन्मुख ये तीनों अभिवृत्तियाँ आनुभविक धरातल पर अपनी शुद्धता में प्राप्त नहीं होती हैं बल्कि एक दूसरे से घुली–मिली रहती हैं। इनके परस्पर घाल–मेल से (कन्फ्यूजन) ही भ्रम का प्रवर्तन होता है जो वास्तव में 'अज्ञान' का कार्य है। अज्ञान जब निवृत्त होता है तो तीनों अभिवृत्तियाँ अपनी अन्य व्यावर्त्तक निजता में प्रकट होती हैं। उनकी यही निजता चेतना की उन–उन अभिवृत्तियों का परमत्व (एब्सोल्यूट) होता है।[5]

प्रोफेसर के.सी. भट्टाचार्य से आरंभ हुए इस पहल में प्रोफेसर ए. के. चटर्जी का विशेष योगदान यह है कि उन्होंने अद्वैतवादी दर्शनों के त्रिविध मौलिक विकल्पों (ज्ञानात्मक, इच्छात्मक और भावनात्मक) को भारतीय परम्परा के अद्वैतवादी दर्शनों पर लागू करते हुए यह दिखाया है कि कौन–कौन अद्वैतवादी दर्शन किस–किस विकल्प के अन्तर्गत मूलित बताये जा सकते हैं। उन्होंने अद्वैतवेदान्त, योगाचार विज्ञानवाद और वेदान्त के चैतन्य सम्प्रदाय को क्रमशः ज्ञानात्मक, इच्छात्मक और भावनात्मक प्रारूप के अद्वैतवाद का प्रतिदर्श स्वीकार किया है। साथ ही साथ प्रोफेसर ए.के. चटर्जी ने शब्दाद्वैत, स्वतंत्राद्वैत और कतिपय वैष्णव वेदान्त के दार्शनिक सम्प्रदायों के कुल–गोत्र को इच्छात्मक प्रारूप के अद्वैतवाद के अन्तर्गत व्याख्यायित किया है। उनकी इस योजना में माध्यमिकों का शून्यवाद कहीं स्थान नहीं पाता है। वस्तुतः माध्यमिकों का शून्याद्वैत 'सर्वदृष्टिप्रहाणवादी' होने से अपना कोई पक्ष घोषित नहीं करता। इसलिए वह एक सर्वथा भिन्न प्रकार का अद्वयवादी दर्शन है जिसे अद्वैतवाद के त्रिविध विकल्पों में सम्मिलित ही नहीं किया जा सकता।[6] वस्तुतः प्रत्येक दार्शनिक दृष्टियों का आत्मचेतन रूप ही माध्यमिक दर्शन में पर्यवसित होता है।

अतएव अब यह देखना प्रासंगिक होगा कि चेतना के ज्ञानात्मक, इच्छात्मक और भावनात्मक स्वरूप पर आधारित अद्वैतवादी दर्शनों के

त्रिविध विकल्पों की आधारिक संरचना क्या है और भारतीय परम्परा के कौन–कौन से अद्वैतवादी दर्शन किस--किस विकल्प की आधारिक संरचना का प्रतिनिधित्व करते हुए मौलिक रूप से अपनी विशिष्टता को ख्यापित करते हैं।

III

अद्वैतवाद का ज्ञानात्मक प्रारूप

विषयी चेतना की विषयोन्मुख अभिवृत्ति का एक पहला मौलिक प्रकार विषय के प्रति उसकी ज्ञानात्मक अभिवृत्ति है। इस अभिवृत्ति में जानने का मतलब किसी वस्तु को उसी रूप में प्रकाशित करना है, जैसी वह प्रदत्त होती है। सकर्मक ज्ञान–क्रिया द्वारा विषय को प्रकाशित करते हुए विषयी की ओर से लेश्यतोऽपि कुछ जोड़ा नहीं जाता है। इस अभिवृत्ति में ज्ञान सदैव वस्तुतंत्र होता है। ज्ञान–क्रिया में पुरूषबुद्ध्यापेक्ष कर्त्तुं, अकर्त्तुं और अन्यथा कर्त्तुं की स्वतंत्रता विषयी को नहीं होती है। विषयी की विषयोन्मुख भूमिका विषय के प्रकाशन मात्र में विश्रान्त होती है (ज्ञानं तु प्रमाणजन्यं, प्रमाणं च यथाभूतवस्तुविषयं अतो ज्ञानं कर्त्तुं अकर्त्तुं अन्यथा वा कर्त्तुं अशक्यं केवलं वस्तुतंत्रं एव तत्, न चोदनातंत्रं नापि पुरुष तंत्रं – शांकरभाष्य, 1.1.4)। अब यदि ऐसा ही है तो ज्ञान मात्र को पारिभाषिक तौर पर प्रमात्मक ही स्वीकार करना होगा और तब भ्रमात्मक ज्ञान की सम्भावना ही आद्यन्त रूप से निरस्त हो जायेगी। यदि वस्तु सदैव उसी रूप में जानी जाये जैसी वह अपने आप में हैं, तो उसे किसी भूलवश दूसरी वस्तु (अन्यथा) के रूप में जाना ही कैसे जा सकता है। (सर्वं धर्मिणी अभ्रान्तं प्रकारे तु विपर्ययः)। यदि भूलवश उसे अन्यथा रूप में जाना भी जाये तो कम से कम उसे सही अर्थों में ज्ञान नहीं कहा जा सकता। परंतु हमारे दिन प्रतिदिन के अनुभव में ज्ञान की यह स्थिति सहज और सुलभ रूप में प्राप्त नहीं है। हम अपने अनुभव में अक्सर भ्रान्ति के शिकार हो जाते हैं। इसका मतलब है कि हमारे ज्ञान में कोई बाहरी तत्त्व हस्तक्षेप करता है और उस हस्तक्षेप के कारण ही ज्ञान भ्रान्त हो जाता है। इस प्रकार का बाहरी हस्तक्षेप स्वयं विषयपक्षीय नहीं हो सकता। विषय को क्या पड़ा है कि वह अपनी ओर से अपने स्वरूप को छिपाये। यह हस्तक्षेप विषयीपक्षीय भी नहीं हो सकता क्योंकि विषयी की भूमिका तो प्रदत्त के प्रकाशन मात्र में सीमित है। अतः उस हस्तक्षेप को विषय और विषयी से सर्वथा बाह्य ही मानना पड़ेगा जो हमारे ज्ञान को भ्रान्त बनाता है। यह भ्रान्ति 'अतस्मिन्न् तद्बुद्धि' रूप होती है। दूसरे शब्दों

में वस्तु तो अपने स्वरूप में ही प्रदत्त होती है लेकिन ज्ञात होने की प्रक्रिया में उसे अन्यथा ही ज्ञात करा दिया जाता है। यह 'अन्यथा ज्ञापन' कदाचित् नहीं होता बल्कि विषय रूप से ज्ञापन के सम्पूर्ण क्षेत्र को व्याप्त करता है। इस तरह किसी वस्तु को जानना उसके अन्यथाकरण अथवा मिथ्याकरण का समानुपाती हो जाता है। अद्वैत वेदान्त में दृश्यत्व मात्र को जब मिथ्यात्व का हेतु बनाया जाता है तो उसका यही तात्पर्य है (दृश्यत्वान्मिथ्या)।

यदि हम भ्रम के स्थिति की जटिल संरचना का विश्लेषण करें और उसके समस्त गुण–सूत्रों को अलग–अलग कर देखें तो यह बात स्पष्ट हो सकती है कि भ्रमात्मक प्रतीति के गुण–सूत्र किस प्रकार वास्तव में जो नहीं है उसकी बिल्कुल यथार्थ जैसी प्रतीति को उत्पन्न करते हैं। अद्वैतवेदान्त किसी भ्रमात्मक प्रतीति का विश्लेषण उसके चतुर्विध घटकों के माध्यम से करता है। इन घटकों को अधिष्ठान, आवरण, विक्षेप और अध्यास की संज्ञा से अभिहित किया जाता है। वास्तव में भ्रम होने के लिए भी उसके आधार में कुछ प्रदत्त होना चाहिए। अन्यथा भ्रम घटित ही नहीं हो सकता। निरधिष्ठानिक भ्रम होता ही नहीं। वह जो भ्रमात्मक है, उसकी अपनी सत्ता तो होती नहीं, फिर भी उसके आधार में कुछ प्रदत्त होता है जिसके सापेक्ष भ्रमात्मक प्रतीति होती है। पुनः अधिष्ठान का ज्ञान यदि उसी रूप में हो, जैसा कि वह है, तो भी भ्रम की सम्भावना नहीं बनेगी। अतः अधिष्ठान को किसी आवरण से ढ़का होना चाहिए। परंतु उसका ढ़का होना ही पर्याप्त नहीं बल्कि उसके स्थान पर कुछ विक्षेपित भी होना चाहिए, अन्यथा वह आवरण से ढ़का मात्र रह जायेगा और अन्यथा रूप में उसकी प्रतीति नहीं हो सकेगी। अन्त में भ्रमात्मक प्रतीति की पूर्णता इस बात में निहित होती है कि वह अधिष्ठान पर अध्यस्त होकर प्रतीत होता है, अधिष्ठान के समानान्तर एक अन्य सत्ता के रूप में उसकी प्रतीति नहीं होती।

यह बात भ्रम के बाधित होने की स्थिति पर विमर्श करने से पूर्णतया स्पष्ट हो जाती है। भ्रम का जब बाध होता है तो यह ऐसा नहीं जैसा कि घट बुद्धि निवृत्त होकर पट बुद्धि में रूपान्तरित हो जाती है। 'रज्जू–सर्प' के भ्रम–स्थल में भ्रम के बाधित होने पर हम यह कहते हुए पाये जाते हैं कि वहाँ सर्प था ही नहीं बल्कि रस्सी को ही हम सर्प समझ रहे थे। अतः बाध निवृत्ति नहीं है। निवृत्ति सदैव वस्तुनिष्ठ परिवर्तन है जबकि बाध ऐसा नहीं है। बाध न तो वस्तुनिष्ठ परिवर्तन है और न ही संशोधन बल्कि प्रतीति का पूर्ण निरास और अधिष्ठान में अवगति है।

अद्वैतवेदान्त में भ्रमात्मक स्थिति के उपर्युक्त विश्लेषण से सत्ता की संरचना एक विशेष रूप में उद्घाटित होती है। वह यह कि अधिष्ठान सत्ता का ज्ञात होना आवश्यक नहीं। वह ज्ञात रहे अथवा अज्ञात, दोनों ही स्थितियों में वह अपनी इदंता में ही अवस्थित रहता है। अज्ञातता, वास्तव में, उसकी सत्ता पर चढ़ा कोई आवरण नहीं है जो उस वस्तु की भाव रूप सत्ता को ही आच्छादित कर देती है। प्रदत्त अधिष्ठान की इसी इदंता अथवा सत्ता के चलते भ्रम और उसका बाध दोनों संभव हो पाता है। भ्रमात्मक प्रतीति में जो प्रतीत होता है उसकी अपनी सत्ता ही नहीं होती। वह अधिष्ठान की इदंता का प्रतिरूप बनकर प्रतीत तो होता है लेकिन यह उसकी उधार ली गई इदंता प्रतिभासमात्र शरीर ही होती है। अद्वैतवेदान्ती इसकी व्याख्या अनिर्वचनीय ख्याति के रूप में करते हैं, जो न तो असत् है और न ही सत्, बल्कि दोनों से विलक्षण होता है। परंतु अधिष्ठान की वास्तविक सत्ता चूँकि ज्ञातता का पूर्ववर्ती होता है, इसलिए उस पर इस बात से कोई अन्तर नहीं पड़ता कि वह ज्ञात है अथवा अज्ञात। उसकी निजता ज्ञात, अज्ञात और अन्यथा ज्ञात इन तीनों ही स्थितियों से अप्रभावित ही रहती है। अतएव कहा जा सकता है कि सत्ता की अज्ञात अवस्था ही उसके होने की निरपेक्षता है। वह जिसकी सत्ता प्रतीति मात्र में निहित है, अर्थात् दृश्यता का समानुपाति है, वह आवश्यक रूप से भ्रमात्मक ही हो सकता है।

अब यदि वस्तु–सत्ता की अज्ञात अवस्था ही उसकी सत्ता की अतलान्त गहनता है तो प्रश्न उठता है कि हम यह कैसे जानते हैं कि कोई वस्तु अपनी अज्ञात अवस्था में भी अपने सत्ता–स्वारस्य का उपयोग करती है (स्वे महिम्नि प्रतिष्ठितः)। इस उपस्थापना के विरोध में कोई कह सकता है कि किसी वस्तु की सत्ता उस ज्ञान–क्रिया का समानुपाति होता है, जिस ज्ञान–क्रिया के द्वारा वह जानी जाती है। अतः किसी वस्तु के सत्ता स्वारस्य की 'ज्ञात अज्ञातता' का विधान करने के लिए एक ऐसे ज्ञान की आवश्यकता है जिसके द्वारा उसकी अज्ञात स्थिति भी प्रकाशित हो सके। स्पष्ट है कि यह कार्य किसी आनुभविक चेतना की ज्ञातृत्व भूमिका में सम्भव नहीं। इस भूमिका का निर्वाह वही चेतना कर सकती है जिसकी ज्ञातृत्व भूमिका में सत्ता की ज्ञात, अज्ञात और अन्यथा ज्ञात इन तीनों ही स्थितियाँ प्रकाशित होती हों। अद्वैत वेदान्त में साक्षी–चैतन्य की अवधारणा इसी भूमिका के निर्वहणार्थ की गई है। सर्वं वस्तु ज्ञाततया अज्ञाततया वा

साक्षी चैतन्य विषय एव – साक्षी चैतन्य के द्वारा किसी वस्तु की ज्ञात, अज्ञात और यहाँ तक की अन्यथा ज्ञात रूप तीनों ही स्थितियाँ प्रकाशित होती हैं। वस्तुतः अद्वैतवेदान्त में सत्ता की अज्ञात अवस्था का तात्पर्य उसका भाव रूप अविद्या के आवरण में होना है और उसके ज्ञान का तात्पर्य उस आवरण का अभिभव (आवरणाभिभव) है।

इस प्रकार अद्वैतवेदान्त की दृष्टि से देखा जाये तो भ्रमात्मक अनुभव को उत्पन्न करने वाले चारों घटकों में केवल अधिष्ठान ही ऐसा है जिसे जानने के सही अर्थों में जाना जा सकता है। शेष दूसरे घटक आत्मनिष्ठ प्रविष्टियाँ हैं जो न केवल सभी प्रकार की भ्रांत संरचनाओं के द्वार खोलते हैं बल्कि जानने की विशुद्ध क्रिया पर रास्ते में ही हमला बोल कर उसे दुष्प्रभावित भी कर देते हैं। इस पूरी प्रक्रिया में, वास्तव में जो जानने योग्य है, हम उसी के ज्ञान से वंचित रह जाते हैं। परंतु यह जानना भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं कि जो जाना जा रहा है वह वास्तव में जानने योग्य ही नहीं है। ऐसी स्थिति में हमारे ज्ञातृत्व भूमिका की आध्यात्मिक मांग केवल यही हो सकती है कि वास्तविकता (अधिष्ठान) को उसके स्वस्वरूप में जाना जाये। द्रष्टव्य है कि इस अपेक्षा की पूर्ति जानने की उस विधा में कभी नहीं हो सकती जो विधा ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान की त्रिपुटीय संरचना में फलित होती है। जब तक ज्ञाता विषयी और ज्ञेय विषय के बीच दूरी बनी रहेगी तब तक ज्ञान की प्रक्रिया को रास्ते में ही दूषित करने वाले दुष्ट कारकों के लिए सदैव ही अवकाश बना रहेगा। ऐसी स्थिति में हम जो कुछ भी जानेंगे वह सही अर्थों में ज्ञान कहे जाने योग्य ही नहीं होगा। अतः ज्ञाता और ज्ञेय के बीच की दूरी का समाप्त हो जाना, दोनों की परस्पर अनन्यता (अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य और विषयावच्छिन्न चैतन्य की अनन्यता) अर्थात् ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान की त्रिपुटी का विलय ही जानने की शुद्धतम और सर्वोत्तम अवस्था है। इस अवस्था का आलंकारिक वर्णन करते हुए वृहदारण्यक उपनिषद् में उचित ही कहा गया है कि "तद् यथा प्रियया स्त्रिया संपरिष्वक्तो न बाह्यं किंचन नान्तरमेवमेवायं पुरूष प्राज्ञेनात्मना संपरिष्वक्तो न बाह्यं किंचन वेदनान्तरम्।" वस्तुतः विषयी की विषयोन्मुख ज्ञानात्मक अभिवृत्ति की यह चरमावस्था है, उसका परमत्व है जहाँ जानने का निहितार्थ वही हो जाना है (ब्रह्मवेद ब्रह्मैव भवति)। अद्वैत वेदान्त चेतना की इसी ज्ञानात्मक अभिवृत्ति पर खड़ा अद्वैतवादी दर्शन है जो अध्यारोप और

अपवाद विधि से खण्ड वृत्तियों का विश्लेषण और निराश करते हुए अखण्डाकार वृत्ति में पर्यवसित हो जाता है। मूलगामी रूप से यही उसका अन्यव्यावृत्त प्रस्थानमूलक वैशिष्ट्य है।

IV

अद्वैतवाद का इच्छात्मक प्रारूप

चेतना की विषयात्मक अभिवृत्ति का एक दूसरा मौलिक प्रकार उसका इच्छात्मक प्रकृति का होना है। इच्छात्मक चेतना अपने आप में स्वायत्त और स्वयं के विधानों से संचालित चेतना है। विषय उसके लिए कोई ऐसा बाहरी 'पर' नहीं जिसका सामना करने के लिए और जिसकी अनुरूपता में अपने को निरूपित करने के लिए वह विवश हो। यह स्वरूपतः सृजनशील चेतना है, पारदर्शी नहीं, जो स्वयं के प्रस्तुतिकरण के लिए अपनी अन्तर्वस्तु के रूप में विषय का संकल्पात्मक आधान अथवा आक्षेप करती है। इस इच्छित अथवा संकल्पित विषय का अपने आप में कोई अस्तित्व नहीं होता। उसका अस्तित्व इच्छा–क्रिया का समानुपाति होता है। दूसरे शब्दों में इच्छित विषय की चेतना में ही इच्छित वस्तु का अस्तित्व है। ऐसा नहीं कि इच्छित विषय की सत्ता उसकी इच्छा किये जाने से पूर्व अज्ञात रूप में अपनी सत्ता–स्वारस्य का उपभोग करती है और बाद में प्रकाशित होती है। वह तो संकल्प के मनोवृजम्भन के साथ ही अस्तित्व का लाभ करती है। चेतना के अन्दर ही अनन्त विषयाकारों का स्फुरण होता है और वही आकार बाहर प्रक्षेपित होकर इस तरह प्रतीत होते हैं जैसे कि वे बाह्यार्थ हों। 'विज्ञप्तिमात्र मेवैतदसदर्थावभासनात्' कहते हुए योगाचार विज्ञानवाद इच्छात्मक चेतना की ही एक सम्पूर्ण तत्त्वमीमांसा प्रतिपादित करता है। बाह्यार्थ के रूप में प्रतीयमान यावत् विषय विज्ञप्तिमात्र हैं। अविज्ञप्त सत्ता वदतोव्याघात है। नील विज्ञान और नील वस्तु में कोई भेद नहीं, क्योंकि सदैव दोनों की साथ–साथ उपलब्धि होती है (सहोपलम्भ नियमाद् अभेदो नीलतद्धियोः)। विज्ञान और विज्ञेय यदि परस्पर भिन्न हैं तो इस भेद में पृथकता भी निहित होनी चाहिए जो यहाँ उपलब्ध नहीं।

परंतु हमारा दिन–प्रतिदिन का अनुभव, जिसमें हम जीते–जागते हैं, चेतना का शुद्ध इच्छात्मक स्वरूप हमें प्राप्त नहीं होता। हमारी लौकिक चेतना में ज्ञान और इच्छा एक दूसरे से उलझे हुए रहते हैं। इच्छा ज्ञान में, जो उसका अभाव है, परिणत हो जाती है। ऐसे ही ज्ञान इच्छा में, जो उसका अभाव है, परिणत हो जाता है। ऐसी इच्छा जिसका अभी जन्म न हुआ हो,

जिस पर ज्ञान ने मानो मार्ग में ही हमला न कर दिया हो, कोई दृष्टान्त प्राप्त नहीं होता। अतः जानना चेतना को, जो वास्तव में इच्छा है, मिथ्या बनाना अथवा उसे भ्रष्ट करना है। चेतना की स्वतंत्रता केवल इच्छा–क्रिया मात्र में निहित है। एक बार यदि किसी वस्तु की इच्छा कर ली गई और मनोवृजम्भित इच्छा का बाह्यरूप में प्रक्षेपण कर दिया गया, तो इच्छात्मक चेतना अपने आप को एक निष्क्रिय–असहाय ज्ञाता के रूप में परिणत कर लेती है। इस प्रक्रिया में वह जो इच्छात्मक चेतना से अभिन्न है, उसे अपने से पृथक् और स्वतंत्र मान लिया जाता है। अब उसे केवल वस्तुनिष्ठ रूप में जाना ही जा सकता है, उसकी इच्छा नहीं की जा सकती। योगाचार विज्ञानवाद में वस्तुनिष्ठता का यही भ्रम अविद्या है जिसकी व्याख्या वे आत्मख्याति के रूप में करते हैं। इसी के चलते यावत् संसार की वस्तुनिष्ठ प्रतीति होती है। इसकी सबसे बड़ी विडम्बना यह है कि आत्मनिष्ठ के द्वारा ही वस्तुनिष्ठता के भ्रम का पोषण किया जाता है। वस्तुनिष्ठता के इस भ्रम के चकाचौंध में चेतना अपने इच्छात्मक स्वरूप का सतत् निषेध करती जाती है। वास्तव में यह चेतना का पतन अथवा उसकी आत्मविस्मृति है। यह पतन उसके आत्मिक जीवन की एक ऐसी घटना है जो पग–पग पर घटित होती है, क्योंकि इच्छा करना यदि उसका स्वभाव है तो प्रत्येक इच्छित विषय उस इच्छा–क्रिया का निषेध है। ऐसा इसलिए कि अब इच्छित विषय ज्ञान–विषय हो जाता है।

वस्तुतः इच्छात्मक चेतना के आत्मिक जीवन में घटित उपर्युक्त घटना उसकी लोक यात्रा है जिसे योगाचार विज्ञानवाद में 'विज्ञान परिणाम' की प्रक्रिया में निरूपित किया गया है (आत्मधर्मोपचारो हि द्विविधो यः प्रवर्तते, विज्ञानपरिणामेऽसौ)। इस लोक यात्रा की आध्यात्मिक चुनौती यह है कि इच्छात्मक चेतना अपनी शुद्धता को पुनः प्राप्त हो। इसे केवल निवृत्तिगामी होकर ही प्राप्त किया जा सकता है, अर्थात् वह शुद्धता केवल और केवल इच्छामात्र के निषेध से ही प्राप्तव्य है। जब तक इच्छा किसी वस्तु की इच्छा होगी तब तक हम उसे ज्ञान–विषय के रूप में जानने के लिए विवश होते रहेंगे। अतः शुद्ध इच्छा किसी वस्तु की इच्छा नहीं। वह तो विषय–बाधा से सर्वथा मुक्त चेतना की एक ऐसी अवस्था है जहाँ इच्छा–क्रिया और इच्छित वस्तु के द्वैत की सम्भावना ही समाप्त हो जाती है। इच्छात्मक चेतना अपनी लोकयात्रा से परावृत्त होकर अपने परमत्व को, अपने अद्वय स्वरूप को प्राप्त होती है।

इसके लिए चेतना की एक ऐसी अवस्था को प्राप्त करना आवश्यक है जो वस्तुनिष्ठता की बाधा से ही सर्वथा मुक्त हो। यह वस्तुनिष्ठता ही शुद्ध इच्छात्मक चेतना की दृष्टि से अविद्या का स्वरूप है जो चेतना के विषयीकरण और विकृतिकरण में फलित होती है। चेतना स्वरूपतः कभी भी विषयकृत और विकृत नहीं है। असत् विषय के भ्रान्त प्रतिविम्ब के कारण चेतना में विषयाकारों का उद्भव होता है और चेतना वस्तुनिष्ठता के जाल में फंसती है। इस तरह एक कल्पित 'अन्य' से विरोध का सामना करते हुए वह 'ज्ञाता' का रूप अख्तियार कर लेती है। यह चेतना के जीवन में घटित एक अनादि बन्धन है लेकिन वह अन्तहीन नहीं बल्कि सप्रयास विशोधनीय है। बन्धन में बंधे रहना उसकी नियति नहीं। वह अपनी शुद्धता को अर्थात् शुद्ध इच्छात्मक स्वरूप को निश्चित रूप से पुनः प्राप्त कर सकती है। यहाँ अवधेय है कि योगाचार विज्ञानवाद में, अद्वैत वेदान्त के विपरीत, चेतना का बन्धन और मुक्ति दोनों ही वास्तविक हैं। चेतना अन्य के मिथ्या प्रत्यय से संक्रमित और सभी प्रकार के अन्यत्व से व्यवदानित भी होती है (चित्तमेव संक्लिष्यते चित्तमेव व्यवदायते)। इस तरह योगाचार विज्ञानवाद में विवर्त के लिए कोई स्थान नहीं, क्योंकि यहाँ मिथ्यात्व का तथ्य स्वयं मिथ्या नहीं है। अद्वैतवेदान्त में अविद्या का कार्य आवरण और विक्षेप है लेकिन योगाचार विज्ञानवाद में आकारों का समुद्भव और उनका बाह्यतया प्रक्षेपण होता है। दोनों में अन्तर इतना मूलगामी है कि पहले में चैतन्य निर्लिप्त रहता है जबकि दूसरे में चेतना लोक में संलिप्त होती है। अतएव योगाचार विज्ञानवाद में चेतना का परमार्थ की ओर प्रत्यावर्तन विशुद्धिकरण की प्रक्रिया में सम्पन्न होती है। इस प्रत्यावर्तन का पहला चरण असत्–कल्प बाह्यार्थ का निषेध है और दूसरे चरण में बाह्यार्थ के चेतनागत आकारों के निरोध से यह प्रक्रिया पूर्ण होती है। जब चेतना के समक्ष कुछ भी जानने योग्य नहीं रह जाता तो उसका ज्ञाता–भाव भी समाप्त हो जाता है (ग्राह्याभावे तद् अग्रहात्)। चेतना में ज्ञाता–भाव के विलुप्त होने के साथ ही उसके इच्छात्मक स्वरूप पर भी प्रभाव पड़ता है। वह विशुद्धिकृत हो जाती है, अर्थात् अब उसे किसी वस्तु की इच्छा से सीमित नहीं किया जा सकता। वास्तव में यह ग्राह्य–ग्राहक भाव से विनिर्मुक्त चेतना की वह अवस्था है जहाँ चित्त अचित्त हो जाता है। परन्तु यह जड़ नहीं बल्कि लोकोत्तर ज्ञान है – इच्छात्मक चेतना का विशुद्धतम अद्वय स्वरूप (अचित्तो अनुपलब्धोऽसौ ज्ञानं लोकोत्तरं च तत्।)

योगाचार विज्ञानवाद का यह अद्वय तत्त्व आधार रूप में 'प्राप्तस्य प्राप्तिः' नहीं बल्कि आधेय रूप में परिनिष्पन्न हुई शुद्ध इच्छात्मक चेतना है।

V

इच्छात्मक अद्वैत के अन्य प्रारूप

चेतना का स्वरूप सृजनात्मक है, इस बात को दर्शन के कई अन्य सम्प्रदाय भी स्वीकार करते हैं। सौत्रान्तिक, अद्वैतवेदान्ती और काण्ट अपने–अपने तरीके से यह मानते हैं कि हमारे साधारण अनुभव में बहुत कुछ आत्मनिष्ठ प्रविष्टियों का समावेश रहता ही है। वास्तव में हमारे आनुभविक ज्ञान का स्वरूप ही कुछ प्रदत्त और कुछ संरचित का मिला–जुला रूप होता है। परंतु इन सभी दर्शनों ने ऐसा स्वीकार नहीं किया कि आत्मनिष्ठता ही हमारे आनुभविक ज्ञान का एकमात्र निर्मायक तत्त्व है। अतः इन सभी को एक दृष्टि से समीक्षात्मक वस्तुवाद की कोटि में रखा जा सकता है। सौत्रान्तिकों के लिए स्वलक्षण प्रत्यक्ष का विषय है लेकिन इस प्रत्यक्ष को दिन–प्रतिदिन का जीता–जागता अनुभव नहीं कहा जा सकता। हमारा जीता–जागता अनुभव तो नामजात्यादि विकल्पों से युक्त सविकल्पक अनुभव होता है। सौत्रान्तिक इसे सामान्यलक्षण कहते हैं जो प्रत्यक्ष पृष्ठभावी आत्मनिष्ठ विकल्पों से संरचित होता है। काण्ट के लिए भी वह जो हमारे ऐन्द्रिक संवेदनों का प्रदत्त विषय होता है, बुद्धि विकल्पों से युक्त होकर ही ज्ञान कहाने योग्य बनता है। इसीलिए काण्ट यह कहने से नहीं चूकते कि बुद्धि प्रकृति का निर्माण करती है। यद्यपि काण्ट की दार्शनिक योजना में 'ट्रान्सेन्डेन्टल युनिटी ऑफ अपर्सेप्सन' एक ऐसे आधार को प्रस्तुत करता हुआ प्रतीत होता है जहाँ विषय और विषयी के द्वैत के समीकृत होने की सम्भावना बनती है, परंतु स्वयं काण्ट इसे एक सम्भावना के बतौर ही प्रस्तावित करते हैं। अतः इन दर्शनों में 'प्रदत्त' का पूरे तौर से आत्मनिष्ठता में अन्तर्भाव नहीं किया जा सकना ही इन्हें अद्वैतवादी दर्शन बनने से रोकता है। किसी भी प्रकार के अद्वैतवादी दर्शन के लिए यह सम्भव है कि वह अपनी दार्शनिक यात्रा द्वैतपरक अनुभव के विश्लेषण से प्रारंभ करे, लेकिन अन्ततः उसे इस द्वैत का अतिक्रमण करना ही होता है। अद्वैतवेदान्त उदाहरण के तौर पर, अपने दार्शनिक विश्लेषण की शुरूआत एक समीक्षात्मक वस्तुवादी दर्शन की तरह करता है। क्योंकि 'सन्मात्र' जो हमारे समस्त अनुभवों का अधिष्ठानभूत और सर्वप्रत्ययवेद्य है वह विषय और विषयी के द्वैतपरक ढ़ाँचे में तमाम उपाधियों

से उपहित हो कर उपलब्ध होता है। परंतु अद्वैतवेदान्त के लिए यह द्वैत ऐसा नहीं जिसका अतिक्रमण न किया जा सके। वास्तव में यह द्वैत अपने उत्स में ही अध्यासिक है और इस तरह मिथ्या होने से ज्ञानपूर्वक निवर्तनीय है। जब अध्यास का अन्धकार हटता है तो इहैव और अधुनैव अपने आप इस द्वैतानुभव का पर्यवसान एक अवेद्य परंतु अपरोक्ष व्यवहार योग्य अद्वैतानुभव में हो जाता है। लेकिन ध्यान रहे कि यह अद्वैत ज्ञानात्मक चेतना का परमत्व है, इच्छात्मक चेतना का नहीं।

भारतीय परम्परा के कुछ अन्य दार्शनिक सम्प्रदाय भी चेतना के सृजनात्मक स्वरूप का अनुमोदन करते हुए अपने–अपने तरीके से इच्छात्मक गोत्र के अद्वैतवाद का पुरस्कार करते हैं। व्याकरण दर्शन में 'शब्द ब्रह्म' का प्रतिपादन इसका एक विशिष्ट उदाहरण है। इस परम्परा की दार्शनिक दृष्टि में समस्त जगत् शब्द ब्रह्म का ही व्याकरण अथवा विवर्तन है। अनादिऽनिधनं ब्रह्म से अर्थमय जगत् का विवर्तन, अर्थात् जागतिक प्रक्रिया को वस्तुपरक न मानकर अर्थपरक रूप में अवधारित करना इस दर्शन की विलक्षण विशिष्टता है। इस अर्थमय विवर्तन को आनुभविक एवं यौक्तिक आधार प्रदान करने के लिए व्याकरण दर्शन उपचार सत्ता और साम्प्रतिक सत्ता में भेद करते हुए अपने विश्लेषण को उपचार सत्ता तक ही सीमांकित कर देता है। उपचार सत्ता का तात्पर्य वस्तत्वर्थ से नहीं बल्कि शब्द से अभिहित होने वाले शब्दार्थ से है (वैयाकरणानां शब्दार्थोऽर्थः न तु वस्त्वर्थोऽर्थः)। पाणिनि से नागेश पर्यन्त विकसित शब्द सम्प्रदाय के लिए शब्दार्थ बुद्धिस्थ पदार्थ है। इससे परे और पृथक् वस्त्वर्थों की स्वतंत्र सत्ता इनके लिए सर्वथा अविचार्य विषय होने से निष्प्रयोजन और निरर्थक है। (किमस्माकं वस्तुगलेन विचारेण, अर्थश्चास्माकं यः शब्देनाभिधीयते)। यहाँ तक कि जायते, अस्ति, विपरिणमते, वर्द्धते, क्षीयते तथा नश्यति इत्यादि षड़विध भाव विकार जिन्हें वस्त्वर्थक माना जाता है, उनकी भी संगति बुद्धिस्थ पदार्थों से ही बैठती है (न सत्तां पदार्थों व्यभिचरति)। अतः हमारे सामान्य अनुभव में देशकालस्थ घटपटादि वस्त्वर्थों की जिस रूप में प्रतीति होती है वे वास्तव में बुद्धिस्थ पदार्थ ही हैं। बुद्धिस्थ पदार्थ से स्वतंत्र कोई वस्त्वर्थ नहीं, क्योंकि सब कुछ शब्द से ही भासित होता है और शब्द के विषय बुद्धिस्थ पदार्थ (उपचार सत्ता) ही हैं। पुनः यदि ज्ञानमात्र शब्दानुगम पुरस्सर है और सब कुछ शब्दानुविद्ध ज्ञान में ही भासित होता है तो शब्द और बुद्धिस्थ पदार्थ में

निरपवाद रूप से सहोपलम्भ नियम को मानना होगा (न सोऽस्ति प्रत्ययोलोके यः शब्दानुगमादृते। शब्दमिद्धमिव ज्ञानं सर्वं शब्देन् भासते)। इस तरह बुद्धिस्थ पदार्थों की शब्दनिष्ठ अर्थात् आत्मनिष्ठ सत्ता ही सिद्ध होती है। इस शब्दनिष्ठ बुद्धिस्थ पदार्थ को वस्त्वर्थ रूप में देखा जाना ही व्याकरण दर्शन में अविद्या दृष्टि है। इसकी व्याख्या व्याकरण दार्शनिक 'बुद्धिसत्ख्याति' के रूप में करते हैं। वस्त्वर्थ के अभिनिवेश से आपूरित हमारा समस्त आनुभविक ज्ञान बुद्धिसत्ख्याति' रूप ही है।

व्याकरण दार्शनिकों ने शब्द से भासित होने वाले इस शब्दनिष्ठ अर्थजगत् की व्याख्या के लिए शब्दाद्वैतवाद की एक सुविचारित तत्त्वमीमांसा प्रस्तुत की है। वास्तव में यह 'वाक्' के उद्‌विकास की एक वैश्वीय प्रक्रिया में जगत् को अवधारित करना है जो वाक् के परा, पश्यन्ति, मध्यमा और वैखरी नामक चतुर्विध स्तरों पर सम्पन्न होती है। इसमें परावाक् उद्‌विकास का योनिभूत अधिष्ठान है जो विशुद्ध इच्छात्मक चेतना का अपरपर्याय है। इसमें चित् के सभी लक्षण (संवेदन, स्पंदन, और वचन इत्यादि) अविभक्त और एकाकार रूप में चिद्‌घन होकर रहते हैं। यह शब्द और अर्थ रूप में व्याकृत होने वाले जगत् का अधिष्ठानभूत, शब्द और अर्थ की पूर्णतः एकात्मता है। पश्यन्ति इस उद्‌विकास का प्रथमपाद है जिसमें ज्ञातृत्व का उन्मेष तो रहता है लेकिन फिर भी ज्ञाता और ज्ञेय का अविभाग ही बना रहता है (अविभागा तु पश्यन्ति)। शब्द और अर्थ के विभाग की दृष्टि से पश्यन्ति अपरिच्छिन्नाकार भाजन की अवस्था है। यह योगाचार विज्ञानवाद के आलय विज्ञान की तरह है जिसमें समस्त संसार बीज–भाव में स्थित रहता है (आलयः सर्वबीजकम्)। आलय विज्ञान का आकार भी अपरिच्छिन्नाकार ही होता है। मध्यमा वाक् शब्द और अर्थ की अनुद्‌भिन्न अवस्था नहीं बल्कि उद्‌भिन्न स्थिति है, फिर भी इसका सम्बन्ध उच्चारित वाक् से न होकर मन और बुद्धि के द्वारा ग्राह्य शब्द से होता है। बैखरी वाक् कण्ठ और तालु से उच्चारित वाणी है जिसमें शब्द और अर्थ परस्पर पृथक्कृत होकर वाच्य–वाचक के अनन्त भेदों के साथ प्रस्तुत होते हैं। इस तरह परावाक् में मूलित लेकिन पश्यन्ति, मध्यमा और बैखरी के त्रयीतंत्र में प्रविष्ट होकर सम्पूर्ण शब्दमय अर्थजगत् की सृष्टि होती है। व्याकरण दर्शन का यह शब्दार्थ तंत्र शब्द को अर्थ में और अर्थ को शब्द में अपनी सतत प्रक्रिया को द्वारा व्याकृत करता चला जाता है। इस तंत्र के अनुलोम क्रम में जहाँ चराचर अर्थ जगत् व्याकृत होता है वहीं शब्द पूर्वयोग

द्वारा प्रतिलोम क्रम का पर्यवसान पुनः परावाक् रूप शब्दब्रह्म में होता है। इस तंत्र में 'योयं शब्दः सोयं अर्थः' का कहीं भी व्यभिचार नहीं होता, इसलिए इसे शब्दाद्वैत से अभिहित किया जाता है।

इसी तरह तंत्रपरम्परा के विभिन्न दार्शनिक सम्प्रदायों में भी चेतना की आत्मनिष्ठ सर्जनात्मकता एक ऐसी मूलगामी अवधारणा है जो उस परम्परा की दार्शनिक निर्मितियों में बार–बार विभिन्न भूमिकाओं में उपस्थित होती है। अतः समवेत रूप से तंत्रागमीय दर्शन को भी इच्छात्मक प्रारूप के अद्वयवादी दर्शन से अभिहित किया जा सकता है। वह इस रूप में कि यह अनन्त वैविध्य पूर्ण जगत् प्रकाश–विमर्शामय परमशिव के आत्मचेतन संकल्प में प्रथित हुआ उसका ही आभास मात्र है। यह आभास न तो परमशिव का विवर्त है और न ही उसका परिणाम बल्कि इस आभास का उन्मेष और निमेष दोनों ही परमशिव के अपरिमित इच्छा स्वातंत्र्य का नर्तन मात्र है। परमशिव की यह नर्तना जब बहिर्मुख रूप से प्रवर्तित होती है तो वह विश्वोन्मुख अनेकता में प्रसार लेता है। पुनः वही अन्तर्मुख निवर्तन में विश्वोतीर्ण विश्रान्ति को प्राप्त होता है। इस सम्पूर्ण प्रक्रिया को परमशिव के संकोच और जगत् के विकास के सन्दोलनात्मक स्पंदन के रूप में समझा जा सकता है। यह उसके आनन्दातिरेकी क्रिया के द्वारा स्वतः स्फूर्त और स्वेच्छया घटित होता है। अतः तंत्रागमीय दर्शन परमशिव के सर्जन की दृष्टि से स्वातत्र्यवाद है और उस सर्जना के द्वारा स्वयं की अभिव्यक्ति की दृष्टि से आभासवाद है। यह सम्पूर्ण आभास परमशिव का ही आत्म प्रसार है लेकिन इस आत्म प्रसरण में वह कभी निःशेष नहीं होता और न ही आत्मप्रसारित आभासों से वह बाधित ही होता है। ऐसा इसलिए कि अनन्त आत्म प्रसारों में आभासित होते हुए भी परमशिव 'सर्वोममायंविभवः' रूप विमर्श से कभी च्युत नहीं होता और इस तरह आभास के आभास होने को प्रतिष्ठा भी प्रदान करता है। परंतु परमशिव की एक नितान्त विश्वोतीर्ण अवस्था भी है जहाँ वह पूर्णाहन्ता रूप विमर्श में स्वरूपतया विश्रान्त रहता है। यही तंत्रागमीय दर्शन में इच्छा, ज्ञान और क्रिया रूप चेतना की परात्पर और विशुद्धतम अवस्था है।

ऐसे ही वैष्णव वेदान्त के विभिन्न सम्प्रदाय जो ब्रह्मपरिणामवादी हैं और जिनका विकास अध्यासवादी शांकर वेदान्त के विरोध हुआ है, उन्हें भी न्यूनाधिक रूप से इच्छात्मक प्रारूप के अद्वैतवादी दर्शनों की श्रेणी में ही रखा जा सकता है। शांकर वेदान्त चूँकि आद्यन्त रूप से ज्ञानात्मक प्रारूप

के अद्वैतवादी दर्शन का प्रतिनिधित्व करता है, इसलिए वैष्णव वेदान्तियों की सृष्टि विषयक ब्रह्मपरिणामवादी अवधारणा का झुकाव इच्छात्मक चेतना की ओर होना स्वाभाविक ही है। परंतु द्रष्टव्य है कि ब्रह्मपरिणामवादी भी यह नहीं मानते कि परिणाम सर्वांशतः होता है, बल्कि उनका मानना है कि परिणाम अंश अथवा पक्ष विशेष में घटित हुआ करता है। (वृक्ष इति एकत्वं शाखा इति नानात्वम्)। इसलिए वैष्णव वेदान्तियों को पूरे तौर से इच्छात्मक स्वरूप वाली चेतना नहीं कहा जा सकता। ब्रह्म के स्वगत भेदो में कुछ ही घटक ऐसे हैं जहाँ चेतना सर्जनात्मक स्वरूप को अवाप्त करती है। इसीलिए वैष्णव वेदान्तियों के भ्रम विषयक सत्ख्याति एवं अन्यख्याति जैसे सिद्धान्तों में आत्मनिष्ठता का आंशिक प्रवेश हो ही जाता है।

VI

अद्वैतवाद का भावनात्मक प्रारूप

विषयी चेतना की विषयात्मक अभिवृत्ति का एक तीसरा मौलिक प्रकार उसका विषय की ओर भावनात्मक रूप से उन्मुख होना है। इस अभिवृत्ति की मौलिकता इस बात में निहित है कि इसमें विषय और विषयी एक दूसरे पर हावी नहीं होते बल्कि परस्पर तुल्य भाव में एक दूसरे के सम्मुख रहते हैं। साधारण तौर पर इस अभिवृत्ति को एक कलाप्रेमी व्यक्ति द्वारा किसी कलाकृति के आस्वादन में चरितार्थ होते देखा जा सकता है। इसलिए सौन्दर्य बोध के सन्दर्भ में उठाया जाने वाला यह प्रश्न ही निरर्थक जान पड़ता है कि सुन्दरता वस्तु में रहने वाली कोई सम्पदा है (वस्तुनिष्ठ) अथवा यह देखने वाले की आँखों में बसती है (आत्मनिष्ठ)।[7] वस्तुतः सौन्दर्य बोध में विषय और विषयी का मुख्यामुख्य भाव होता ही नहीं। दोनों एक दूसरे के सम्मुख परस्पर तुल्य भाव में होते हैं। सौन्दर्यानुभूति के इस प्रारूप का पर्यवसान अन्ततः एक ऐसी एकतानता में होती है जहाँ आस्वाद्य विषय और आस्वादक विषयी का एक दूसरे से मानों पार्थक्य ही समाप्त हो जाता है। परंतु इस एकतानता को कभी भी दोनों की अभेद स्थिति नहीं कहा जा सकता। इसलिए भारतीय परम्परा में इसे अद्वैतानुभव से लेश्यतोऽपि न्यून 'ब्रह्मानन्द सहोदर' से अभिहित किया गया है। यह कोई स्थायी भाव नहीं बल्कि थोड़े समय के लिए उत्पन्न होता है और फिर समाप्त हो जाता है।

द्रष्टव्य है कि भारतीय परम्परा के अधिकांश अद्वैतवादी दर्शन विषयी की विषयोन्मुख ज्ञानात्मक और इच्छात्मक अभिवृत्ति को सन्दर्भ बना

कर विकसित हुए हैं। विषयी की भावनात्मक अभिवृत्ति के दार्शनिकीकरण और उसके अद्वैतवादी विन्यास का प्रयास नहीं के बराबर हुआ है। इतना ही नहीं बल्कि वैदिक परम्परा के अद्वैतवादी दर्शन भी सच्चिदानन्द ब्रह्म के सत् और चित् पक्ष पर ही ज्यादा बल देते हुए प्रतीत होते हैं। ब्रह्मवादी दर्शनों में उसके आनन्द पक्ष के दार्शनिक महत्त्व को कम करके ही आंका गया है। अपवाद स्वरूप केवल चैतन्यवेदान्त ही एक ऐसा दर्शन है जो विषयी की भावनात्मक अभिवृत्ति और सच्चिदानन्द की आनंद भूमि पर खड़ा हुआ दर्शन प्रतीत होता है। यद्यपि यह भी पूर्ण विकसित दर्शन नहीं है फिर भी रूप गोस्वामी, जीव गोस्वामी, बलदेव विद्याभूषण और कृष्णदास कविराज इत्यादि के द्वारा इसका जितना भी विकास हुआ है उसमें भावनात्मक प्रारूप के अद्वैतवाद के सभी गुण–सूत्र विद्यमान हैं।

चेतना की भावनात्मक अभिवृत्ति का प्रारम्भिक रूप हमें अन्तर–वैयक्तिक सम्बन्धों में प्राप्त होता है। इसके उत्कृष्ट रूप को प्रणय सम्बन्ध के उद्देश्य–विधेय रूप दोनों सम्बन्धियों के बीच देखा जा सकता है। चैतन्य वेदान्त में इसका आदर्शीकरण और साथ ही साथ मानवीकरण राधा–कृष्ण के रूप में किया गया है। राधा–कृष्ण का उदात्त प्रेम इसका आदर्शतम प्रतीक है। इस आदर्श और अलौकिक प्रेम को तत्त्वमीमांसीय आधार प्रदान करने के लिए चैतन्य वेदान्त में परमब्रह्म की अधिष्ठानभूत सत्ता तो स्वीकार की गई है लेकिन उसे निर्गुण, निर्विशेष स्वरूप में नहीं बल्कि सगुण, सविशेष रूप में अवधारित किया गया है। वस्तुतः सगुण ब्रह्म भक्तिमार्गीय साधना की एक तत्त्वमीमांसीय आवश्यकता है। अब चूँकि भक्ति के विभिन्न रूप हैं, अतः भक्तिवेदान्त में परमेश्वर की संकल्पना भी भिन्न–भिन्न रूपों में की गई है। चैतन्य वेदान्त में भक्ति की पराकाष्ठा प्रेमा भक्ति में देखी गई है। इसलिए उनका परमेश्वर भी प्रेमस्वरूप ही है। यद्यपि परमब्रह्म परमेश्वर अनन्त कल्याणमय शक्तियों का सागर है और प्रत्येक शक्तियाँ अपने आप में भी अनन्त हैं तथापि उसकी तीन शक्तियाँ प्रमुखतम हैं। इनकी गणना स्वरूप शक्ति, मायाशक्ति और जीवशक्ति के रूप में की गई है। परमेश्वर अपनी मायाशक्ति से एक ओर भौतिक जगत् की तो दूसरी ओर अपनी जीव शक्ति से अनगिनत चिद्णु जीवात्माओं की सृष्टि करता है। यह चिद्णु रूप जीवात्मायें ही हैं जो योगमाया के प्रभाव से अपने वास्तविक स्वरूप 'ब्रह्मांश' को विस्मृत किये रहती हैं। ये दोनों शक्तियाँ परमब्रह्म की

बहिरंग शक्तियाँ हैं। इस शक्ति से सृष्ट जड़ वस्तु और जीवात्माओं का संसार कोई धोखा नहीं बल्कि वास्तविक है, क्योंकि परमब्रह्म ही अपने स्वरूप से इनका निमित्तकारण और अपनी शक्तियों से उपादान कारण हैं। परमब्रह्म की तीसरी शक्ति स्वरूपशक्ति है जो उसमें अन्तरंग रूप से रहती है। यह अन्तरंग शक्ति परमब्रह्म के सत् चित् और आनंद से युक्त होकर क्रमशः सन्धिनी, संवित् और ह्लादिनी के त्रैविध्य में अभिव्यक्त होती है। चैतन्य वेदान्त की एक विशिष्टता है कि वह परमब्रह्म के सत् चित् और आनंद में उत्तरोत्तर उत्कर्ष देखता है। इसलिए उसके स्वरूप शक्तियों अर्थात् सन्धिनी, संवित् और ह्लादिनी में भी उत्तरोत्तर उत्कर्ष होता है। अतः चैतन्य वेदान्त अन्य दार्शनिकों की तरह सन्धिनी (सत्) संवित् (चित्) शक्ति को महत्त्व देने की अपेक्षा ह्लादिनी शक्ति को अपेक्षाकृत अधिक महत्त्व देता है। साथ ही साथ इस दर्शन में मनुष्य के परमप्राप्तव्य को भी इसी सन्दर्भ में देखा गया है।

परमब्रह्म जब अवतार ग्रहण करता है तो उसकी सन्धिनी और संवित् शक्ति उसके ऐश्वर्य के रूप में प्रकट होती हैं और ह्लादिनी शक्ति का विग्रह प्रियतम और रसराज स्वरूप में होता है। अब चूँकि ह्लादिनी शक्ति ही सर्वश्रेष्ठ है, इसलिए भगवान का प्रेममय स्वरूप ही सर्वोत्तम है। चैतन्य वेदान्त की मान्यता में श्रीकृष्ण परम ब्रह्म के ऐसे ही पूर्णावतार हैं। कृष्ण जो कर्षण धातु से बना है, उसका अर्थ ही है – 'आकर्षण'। अतः कृष्ण परम आकर्षक, चित चोर होने से ही प्रियतम हैं। परंतु कृष्ण को उनके प्रियतम होने का बोध नहीं, क्योंकि कोई अपने आप से प्रेम नहीं कर सकता– तस्मात् एकाकी न रमते। प्रेम द्वित्व संबंध में ही चरितार्थ होता है। नार्सिस्ट प्रेम भी एक कल्पित 'पर' को प्रक्षेपित किये बिना सम्भव नहीं। अतः ह्लादिनी शक्ति एक ओर कृष्ण के अत्यन्त प्रेमास्पद स्वरूप में प्रकट होती है तो दूसरी ओर प्रेमास्पद कृष्ण की परकीया विग्रह 'राधा' के रूप में प्रकट हो कर कृष्ण से बेतहासा प्रेम करती है और इस तरह कृष्ण के प्रेमास्पद स्वरूप को सार्थक बनाती है। अन्यथा कृष्ण के परम प्रेमास्पद होने का कोई अर्थ ही नहीं। राधा–कृष्ण की यही प्रेमरति प्रेम की पराकाष्ठा है, उसका महाभाव है। इस महाभाव में राधा विषयी हैं जो प्रेम करती हैं और कृष्ण विषय हैं जिनको प्रेम किया जाता है। राधा और कृष्ण परस्पर विषयी और विषय होते हुए भी एक दूसरे से अपृथक् भाव में 'युगनद्ध' होते हैं। राधा–कृष्ण का यह भेदाभेद मन

और बुद्धि से सर्वथा अचिंत्य हैं। रसेश्वरी राधारानी और रसराज कृष्ण के युगल भाव की यह 'नित्य रति' ही विषयी चेतना की विषयोन्मुख भावनात्मक अभिवृत्ति की पराकाष्ठा, उसका परमत्व है। यही प्रेमा भक्ति का परमपद, उसकी पार्यन्तिक अवस्था है जिसे चैतन्य महाप्रभु ने सदेह प्राप्त किया था। चैतन्य वेदान्त की दृष्टि में प्रत्येक मनुष्य की आध्यात्मिक अभीप्सा का अन्तिम प्राप्तव्य यही प्रेमा भक्ति है। निष्कर्षतः चैतन्य वेदान्त परमब्रह्म की बहिरंग शक्ति की अपेक्षा से विशेषाद्वैत है और अन्तरंग शक्ति की दृष्टि से अचिंत्यभेदाभेद है। युगनद्ध राधा–कृष्ण का अचिंत्यभेदाभेद ही अद्वैत के ज्ञानात्मक और इच्छात्मक प्रारूप से भिन्न उसका भावनात्मक प्रारूप है।

VII

उपसंहार

इस प्रकार अद्वैतवादी दर्शनों के अनन्तर्भाव्य स्वरूप की अन्वेषणा के इस समकालीन प्रयास का उपसंहार करते हुए हम कह सकते हैं कि समस्त मानवीय अनुभव विषय और विषयी के द्वैतपरक आधारभूत ढ़ाँचे में ही व्यवस्थित होते हैं। इस आधारभूत ढ़ाँचे में विषयी की विषयात्मक अभिवृत्ति को तीन मौलिक प्रकार के वैकल्पिक अभिवृत्तियों में (ज्ञानात्मक, इच्छात्मक और भावनात्मक) वर्गीकृत किया जा सकता है। मानवीय अनुभव का कोई ऐसा आयाम सम्भव ही नहीं जो इन तीन अभिवृत्तियों में संग्रहित न होता हो। मौलिक रूप से इन्हीं तीन अभिवृत्तियों में मूलित हमें अद्वैतवादी दर्शन के तीन अनन्तर्भाव्य प्रारूप (ज्ञानात्मक अद्वैत, इच्छात्मक अद्वैत और भावनात्मक अद्वैत) प्राप्त होते हैं। चूँकि विषयी की विषयात्मक अभिवृत्ति के तीन ही प्रकारों में समस्त मानवीय अनुभव का समावेश हो जाता है, अतः अद्वैतवादी दर्शन के तीन ही मौलिक प्रकार सम्भव हैं।[8] अद्वैतवादी दर्शनों का अनन्तर्भाव्य रूप न तो तीन से अधिक हो सकता है और न ही तीन से कम। हाँ, अद्वैतवाद के एक ही मौलिक प्रकार के अवान्तर साम्प्रदायिक भेद हो सकते हैं लेकिन उन्हें अद्वैतवाद का मौलिक प्रकार नहीं कहा जा सकता, क्योंकि उनकी आधारभूत संरचना समान ही होती है। भारतीय परम्परा के अद्वैतवादी दर्शनों का इतिहास इस प्रकार के अवान्तर साम्प्रदायिक भेदों से भरा पड़ा है। यहाँ एक प्रश्न उठता है कि क्या अद्वैतवाद का कोई ऐसा स्वरूप संभव नहीं जिसमें उसके ज्ञानात्मक, इच्छात्मक और भावनात्मक तीनों प्रारूपों को एक साथ समन्वित किया जा सके ? वास्तव में देखा जाय तो यह प्रश्न ही सार्थक नहीं क्योंकि उपर्युक्त तीनों ज्ञानमीमांसीय अभिवृत्तियों पर जो तीन प्रकार

की अद्वैती तत्त्वमीमांसा खड़ी होती है, वे परस्पर व्यावर्त्तक होने से एक दूसरे को बहिष्कृत करते हैं। अतः कोई अनुभवाधिष्ठित अद्वैतवादी तत्त्वमीमांसा ज्ञानात्मक, इच्छात्मक और भावनात्मक में से कोई एक ही प्रकार की हो सकती है। एक साथ तीनों नहीं। अवधेय है कि इस तथ्य का उद्‌घाटन चेतना के विमर्शात्मक स्तर पर ही सम्भव होता है। जब हम विभिन्न प्रकार के अद्वैतवादी दर्शनों के ऐतिहासिक रूप पर विमर्श करते हुए यह प्रश्न उठाते हैं कि कोई अद्वैतवादी दर्शन ऐसा ही क्यों है, क्यों नहीं अन्यथा है; तो यही विमर्श अद्वैतवादी दर्शनों के अनन्तर्भाव्य मौलिक विकल्पों के उद्‌घाटन में फलित होता है। परंतु विमर्शात्मक चेतना एक उच्चस्तरीय चेतना है जो ज्ञानात्मक, इच्छात्मक और भावनात्मक अभिवृत्तियों पर विमर्श करती है; लेकिन विमर्श करती हुई वह स्वयं एक अभिवृत्ति नहीं होती।

दर्शन विभाग
डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय
सागर (म.प्र.)

सन्दर्भ एवं पाद टिप्पणियाँ –

1. *द्रष्टव्य, स्वातंत्र्योत्तर दार्शनिक प्रकरण–2 'समेकित अद्वैतविमर्श', सम्पा. अम्बिकादत्तशर्मा, पृ. 519 से 535, विश्वविद्यालय प्रकाशन, सागर, 2005*
2. *स्टडिज इन फिलॉसफी, के.सी. भट्टाचार्य, दी कॉन्सेप्ट ऑफ दी एब्सोल्यूट एण्ड इट्स अल्टरनेटिव फार्म्स (एनालिसिस 42) पृ. 486 – The absolute may be defined from the standpoint of reflection as what is tree from the implicational dualism of content and consciousness. There are three ways in which this freedom can be understood : (a) the content may be freed from its reference to consciousness and we have 'Truth' - the absolute for knowing; (b) consciousness may be freed from its content and we have 'Freedom' of will - the absolute for willing; (c) the implicational relation of content and consciousness may be freed from their distinction as a unity and we have 'Value' - the absolute for feeling.*
3. *स्टडिज इन इण्डियन थॉट (टी.आर.वी. मूर्ति के निबंधों का संकलन) सम्पा. हेराल्ड जी. कोवार्ड, पृ. 18, मोतीलाल बनारसी दास, 1983, इसके अतिरिक्त इसी पुस्तक में संकलित टी.आर.वी. मूर्ति के दो अन्य आलेखों 'इल्युजन' एज कनफ्यूजन ऑफ सब्जेक्टिव फंक्सन्स' और 'नॉलेज एण्ड ट्रूथ' में एतद्विषयक विचार के अन्य पहलुओं का पल्लवन देखा जा सकता है।*

4. • ए.के. चटर्जी के इस आलेख की एस. सेवास्टियन ने 'रिसेन्ट रिसर्चेज इन बुद्धिज्म' नामक ग्रन्थ में सम्पादित किया है जो सद्गुरू पब्लिकेसन, दिल्ली से प्रकाशित है।
5. वही पृ. 2
6. वही पृ. 3
7. वही पृ. 10
8. के.सी. भट्टाचार्य से लेकर ए.के. चटर्जी तक अद्वैतवादी दर्शन के वैकल्पिक प्रारूपों को जिस तरह से उद्घाटित किया गया है, उसे कालिदास भट्टाचार्य ने 'नॉलेज सिचुयेशन' की अपनी तरह से व्याख्या करते हुए उसकी परिणति 'दर्शन की वैकल्पिक दृष्टियों' में दिखाया है। मैंने इस आलेख में कालिदास भट्टाचार्य की पुनर्रचना को सम्मिलित नहीं किया है। इसके लिए द्रष्टव्य है, अल्टरनेटिव स्टैंडप्वायंट इन फिलॉसफी, कालिदास भट्टाचार्य, दासगुप्ता एण्ड कम्प., कलकत्ता, 1953

सामान्यलक्षणसन्निकर्ष : एक दार्शनिक अन्धविश्वास

सच्चिदानन्द मिश्र

नैयायिक प्रत्यक्ष के लिए इन्द्रिय का अर्थ के साथ सन्निकर्ष होना आवश्यक मानते हैं। इस न्यायमत का प्रभाव इतना व्यापक है कि अन्य दार्शनिक भी अनेक बार इन्द्रियों का अर्थ के साथ सन्निकर्ष होना प्रत्यक्ष की मूलभूत शर्त के रूप में देखते हैं। बहुधा इन्द्रियार्थसन्निकर्षजन्य ज्ञान ही प्रत्यक्ष है, इस प्रकार प्रत्यक्ष की परिभाषा प्रस्तुत की जाती है। तर्कसङ्ग्रह, न्यायसिद्धान्तमुक्तावली इत्यादि न्यायवैशेषिक सम्प्रदाय के प्रकरणग्रन्थों में इस इन्द्रियार्थसन्निकर्ष के विविध प्रकार निरूपित हैं। मूलतः इसके दो भेद हैं – लौकिक तथा अलौकिक। वैसे लौकिक तथा अलौकिक ये शब्द भी अपने आपमें विचित्र हैं। यदि हम इनके शाब्दिक अर्थ के बारे में चर्चा करें तो पाते हैं कि उस शाब्दिक अर्थ का इस सन्निकर्ष के विषय में इसके प्रयोग से शायद कुछ ज्यादा लेना देना नहीं है। जो अलौकिक सन्निकर्ष माने गये हैं वे भी इसी लोक से सम्बन्धित हैं। लौकिक तथा अलौकिक शब्दों का प्रयोग यहाँ पर इस अर्थ में प्रतीत होता है कि लौकिक वह है जो सामान्य लोकानुभव से गम्य है तथा अलौकिक वह जो सामान्य लोकबुद्धि के द्वारा लभ्य नहीं है। परन्तु इस अर्थ में भी इसका प्रयोग पूरा का पूरा असन्दिग्ध नहीं कहा जा सकता क्योंकि लौकिक सन्निकर्षों में भी अनेक ऐसे सन्निकर्ष समवाय, विशेषणविशेष्यभाव आदि परिगणित हैं, जिनको कि सामान्य लोकबुद्धि के द्वारा जान पाना सम्भव नहीं दिखता। जो भी हो लौकिक सन्निकर्षों के छह प्रकारों की चर्चा की जाती है संयोग, संयुक्तसमवाय, संयुक्तसमवेतसमवाय, समवाय, समवेतसमवाय तथा विशेषणविशेष्यभाव। प्रत्यक्ष की समस्त प्रक्रियाओं तथा समस्त उदाहरणों की व्याख्या केवल इन्हीं छह सन्निकर्षों के माध्यम से सम्भव नहीं दिखायी देती। अनेक ऐसे स्थल हमारे अनुभव में आते हैं, जिनको प्रत्यक्ष मानना हमारी मजबूरी है, परन्तु इनमें से किसी भी सन्निकर्ष के माध्यम से उन प्रत्यक्षों की व्याख्या कर पाना सम्भव नहीं दिखता। इसी प्रकार

विभिन्न विषयों के बारे में हमारे ज्ञान ज्ञान के किन स्रोतों से जन्म ले रहे हैं, यह हमें पता नहीं होता परन्तु उनको भी हमारी प्रमाणमीमांसा में अन्तर्भुक्त करना आवश्यक है। इसी कारण तीन अलौकिक सन्निकर्षों की स्वीकृति भी नैयायिकों ने दी है -- सामान्यलक्षण, ज्ञानलक्षण तथा योगज सन्निकर्ष। इसमें तृतीय सन्निकर्ष तो वस्तुतः ही अलौकिक ही है क्योंकि किसी भी प्रकार से वह सामान्य लोकानुभव में नहीं आनेवाला। सैद्धान्तिक रूप में यह माना जाता है कि योग के अभ्यास से मनुष्य के अन्दर कुछ ऐसी क्षमताएँ विकसित हो सकती हैं कि वह भूत, भविष्य तथा वर्तमान तीनों ही कालों की किसी भी वस्तु के बारे में ज्ञान प्राप्त करने में सक्षम हो जाता है। इस योगज सन्निकर्ष से होनेवाले योगज प्रत्यक्ष के दो प्रभेद हैं -- युक्त योगी को होनेवाला प्रत्यक्ष तथा युञ्जान योगी को होनेवाला प्रत्यक्ष। माना जाता है कि युक्त को सदा सर्वदा समस्त विषयों का भान होता है तथा युञ्जान को चिन्तन करने पर विषयों का भान होता है।[1] इस सिद्धान्त को सामान्य अनुभवों के द्वारा परीक्षित नहीं किया जा सकता है। इस योगज सन्निकर्ष के प्रसङ्ग को मैं यहीं पर छोड़ता हूँ क्योंकि यह प्रस्तुत आलेख का विषय नहीं है, तथा इस विषय के विवेचन के लिए एक पूरे नवीन आलेख की सम्भावना है। इसी प्रकार ज्ञानलक्षणसन्निकर्ष की भी स्वीकृति न्यायवैशेषिक परम्परा में है। इस विषय में विस्तृत विवेचन मेरे आलेख 'ज्ञानलक्षणसन्निकर्ष की समस्याएँ' में देखा जा सकता है।[2] प्रस्तुत आलेख में मैं अपना ध्यान केवल सामान्यलक्षणसन्निकर्ष पर केन्द्रित करूँगा, तथा मेरा प्रयास यह देखने का होगा कि क्या नैयायिकों को सचमुच सामान्यलक्षणसन्निकर्ष की कोई आवश्यकता है? न्यायसिद्धान्तमुक्तावली इत्यादि प्रायशः सभी न्याय के प्रकरणग्रन्थों में सामान्यलक्षणसन्निकर्ष की चर्चा प्राप्त होती है। उन स्थलों में इसकी चर्चा जिस रूप में प्राप्त होती है, उससे इसका संकेत मिलता है कि नैयायिकों के लिए सामान्यलक्षणसन्निकर्ष को स्वीकारना आवश्यक है। मुझे लगता है कि वस्तुतः इस सन्निकर्ष की स्वीकृति के मूल में भी अनेक किस्म के भ्रम ही छुपे हैं। निष्कर्ष के रूप में मैं पाता हूँ कि वस्तुतः नैयायिकों को सामान्यलक्षणसन्निकर्ष की कोई आवश्यकता नहीं है।

सामान्यलक्षणसन्निकर्ष में सन्निकर्ष शब्द का अर्थ तो प्रसिद्ध है जो कि ज्ञानलक्षणसन्निकर्ष तथा योगज सन्निकर्ष में भी समान है। लौकिक सन्निकर्ष में भी सन्निकर्ष शब्द उसी प्रकार से आता है। सामान्यलक्षणसन्निकर्ष इस शब्द का अर्थ बताते हुए कहा जाता है कि 'सामान्यं लक्षणं स्वरूपं

यस्याः' सामान्य ही जिसका लक्षण यानी स्वरूप है। इस प्रकार से सामान्यलक्षणसन्निकर्ष का अर्थ सामान्यस्वरूप सन्निकर्ष निकलता है। यानी इस प्रकार के स्थलों में सामान्य ही सन्निकर्ष का कार्य करता है। यह देखना प्रारम्भिक रूप से आवश्यक है कि सामान्यस्वरूप सन्निकर्ष को स्वीकार करने की आवश्यकता क्या है? इस सन्निकर्ष की आवश्यकता हो तभी इस सन्निकर्ष को स्वीकारना चाहिए अन्यथा लाघव के नियम को सम्मान देते हुए इसको छोड़ देना चाहिए। जिन अवधारणाओं का कोई मूलाधार नहीं है, उनको दार्शनिक सिद्धान्तों के रूप में प्रस्तावित करना दर्शन को कमजोर बना देता है।

न्यायवैशेषिक परम्परा में हम सबसे प्रथम तात्पर्यटीका में वाचस्पति मिश्र को सामान्यलक्षणसन्निकर्ष को स्वीकार करने की वकालत करते हुए पाते हैं। वाचस्पति मिश्र एक समस्या का सामना कर रहे थे। समस्या बहुत मौलिक है कि व्याप्ति का ग्रहण किस प्रकार से हो सकता है? हम व्याप्ति को कैसे जानते हैं? दर्शन की समस्याओं से परिचित व्यक्ति भलीभाँति जानते हैं कि यह समस्या बहुत ही मौलिक दार्शनिक समस्या है। पाश्चात्त्य दर्शन में भी इस समस्या को बहुत महत्त्व की दृष्टि से देखा गया तथा यह समस्या 'आगमनात्मक सामान्यीकरण' के नाम से प्रसिद्ध है। एक ठोस उदाहरण लेकर इस समस्या को देखा जाये कि हम धूम को देखकर अग्नि का अनुमान करते हैं। परन्तु धूम से अग्नि का अनुमान करने के लिए आवश्यक है कि हमें धूम में अग्नि की व्याप्ति का ज्ञान हो। धूम में अग्नि की व्याप्ति के ज्ञान का तात्पर्य होगा कि हमें ज्ञान हो कि 'जहाँ जहाँ धूम है वहाँ वहाँ अग्नि है'। समस्या यह है कि 'जहाँ जहाँ धूम है वहाँ वहाँ अग्नि है' इसको जानने के लिए आवश्यक है कि हम समस्त धूमव्यक्तियों को जानें तथा समस्त अग्निव्यक्तियों को जानें। यदि समस्त धूमव्यक्तियों को तथा समस्त अग्निव्यक्तियों को नहीं जानते तो यह निश्चय किस प्रकार से हो सकता है कि 'जहाँ जहाँ धूम है वहाँ वहाँ अग्नि है'। अनुमान का विरोध करनेवाले चार्वाकसम्प्रदायीय तथा चार्वाक जैसी विचारधारा रखनेवाले अन्य दार्शनिक भी इन्हीं आधारों पर अनुमान का खण्डन करते हैं। एक अन्य उदाहरण को लिया जा सकता है, जो कि पाश्चात्त्य दर्शनपरम्परा में अत्यन्त प्रचलित है, सुकरात मरणशील है, मनुष्य होने के कारण। इस प्रकार का अनुमान करने की प्रक्रिया में प्राथमिक रूप से यह जानना अनिवार्य होगा कि जो जो मनुष्य हैं वे मरणशील हैं। समस्त मनुष्यों की मरणशीलता को निश्चयपूर्वक जानना इस अनुमान की

प्राथमिक शर्त है। जब तक हम यह नहीं जानते कि समस्त मनुष्य मरणशील हैं, तब तक सुकरात के मनुष्य होने के आधार पर सुकरात के मरणशील होने का अनुमान वैध रूप से नहीं किया जा सकता। न्याय की प्रक्रिया के अनुसार हम एक धर्म के आधार पर द्वितीय धर्म का अनुमान करते हैं। जिसका अनुमान किया जाता है उसको साध्य तथा जिसके आधार अनुमान सम्भव होता है उसको हेतु कहा जाता है। उपर्युक्त उदाहरणों में से प्रथम उदाहरण में अग्नि साध्य है तथा धूम हेतु है। द्वितीय उदाहरण में मरणशीलत्व साध्य है तथा मनुष्यत्व हेतु है। किसी भी हेतु के आधार पर किसी भी साध्य का अनुमान कर पाना सम्भव नहीं होता, अपितु किसी विशिष्ट हेतु के आधार पर किसी विशिष्ट साध्य का अनुमान कर पाना ही सम्भव होता है। तथा इसका निर्धारण करने का आधार है व्याप्ति। जिस साध्य तथा हेतु के मध्य व्याप्तिरूपी सम्बन्ध है, उसी हेतु के आधार पर उस साध्य का अनुमान कर पाना सम्भव होता है अन्यथा नहीं। यदि किसी साध्य तथा हेतु के मध्य व्याप्ति रूप सम्बन्ध नहीं है, तो उस हेतु के आधार उस साध्य का अनुमान वैध रूप से कर पाना सम्भव नहीं होता। अब समस्या उभर कर इस रूप में सामने आती है कि व्याप्ति साध्य तथा हेतु के मध्य सम्बन्ध है, सम्बन्ध का प्रत्यक्ष तभी हो सकता है यदि सम्बन्धियों का प्रत्यक्ष हो रहा हो। यदि सम्बन्धियों का प्रत्यक्ष नहीं हो रहा है तो सम्बन्ध का प्रत्यक्ष सम्भव नहीं। स्पष्ट रूप में उदाहरण को दृष्टिगत रखते हुए कहा जाये तो धूम के आधार अग्नि का अनुमान जो कि लोकप्रसिद्ध है, तभी सम्भव होगा यदि हमें अग्नि तथा धूम के मध्य व्याप्तिरूपी सम्बन्ध का ज्ञान हो। यदि अग्नि तथा धूम के मध्य व्याप्तिरूप सम्बन्ध का ज्ञान नहीं हुआ है तो धूम के द्वारा अग्नि का अनुमान कर पाना शक्य नहीं होगा। परन्तु यह व्याप्तिरूपी सम्बन्ध एक धूम में एक अग्नि का सम्बन्ध नहीं है जिसके आधार पर हम अग्नि का अनुमान करते हैं क्योंकि एक धूम में एक अग्नि का सम्बन्ध होने व ज्ञात होने की स्थिति में आप द्वितीय धूम के आधार पर द्वितीय अग्नि का अनुमान नहीं कर सकते। इस कारण यही मानना होगा कि यह व्याप्तिरूपी सम्बन्ध समस्त धूम में समस्त अग्नि का सम्बन्ध है, तभी किसी भी धूम को देखकर किसी भी अग्नि का अनुमान सम्भव होता है। समस्या यह है कि समस्त धूमों में समस्त अग्नियों का सम्बन्ध जानने के लिए यह आवश्यक होगा कि हम किसी न किसी प्रकार से समस्त धूमव्यक्तियों को तथा समस्त अग्निव्यक्तियों को जानें। जब तक हम समस्त धूमव्यक्तियों तथा समस्त अग्निव्यक्तियों को

नहीं जानते, तब तक समस्त धूमव्यक्तियों तथा समस्त अग्निव्यक्तियों के मध्य विद्यमान व्याप्तिरूपी सम्बन्ध को नहीं जान सकते। समस्त धूमव्यक्तियों तथा समस्त अग्निव्यक्तियों को जानने के लिए हमारे पास कोई साधन है ऐसा प्रतीत तो नहीं होता। प्रत्यक्ष तो केवल वर्तमानमात्रग्राही होता है या कहा जाये किसी एक कालखण्ड में विद्यमान व्यक्तिविशेष का ही ग्रहण प्रत्यक्ष के द्वारा हो सकता है। परन्तु अनेक धूमव्यक्ति तथा अग्निव्यक्ति काल के विभिन्न खण्डों में विद्यमान हैं, व्यावहारिक रूप से उनका प्रत्यक्षीकरण कर पाना हमारे इन्द्रियों के द्वारा सम्भव नहीं है। अनुमान स्वयं ही प्रत्यक्ष पर आधारित है इस कारण यह कहना तो नितान्त युक्तिविरुद्ध होगा कि समस्त धूमव्यक्तियों तथा समस्त अग्निव्यक्तियों को हम अनुमान के द्वारा जान लेंगे तथा इस प्रकार उनके आपसी सम्बन्ध को अनुमान से जान लेंगे। इस कारण समस्त धूमव्यक्तियों तथा समस्त अग्निव्यक्तियों के मध्य विद्यमान व्याप्तिरूपी सम्बन्ध को जानने के लिए हमको अन्ततः प्रत्यक्ष पर ही निर्भर करना होगा। यह और बात है कि वह प्रत्यक्ष किस प्रकार का है।

वाचस्पति मिश्र इसी समस्या का समाधान करने के लिए सामान्यलक्षणसन्निकर्ष की अवधारणा प्रस्तुत करते हैं। उनका कहना है कि समस्त धूमव्यक्तियों तथा समस्त अग्निव्यक्तियों को हम प्रत्यक्ष से नहीं जान सकते, इस निष्कर्ष का आधार क्या है? इस निष्कर्ष का मूल इसमें है कि हम प्रत्यक्ष से उसी को जान सकते हैं जो कि हमारी इन्द्रियों से सन्निकृष्ट हो, अगर कोई व्यक्ति हमारी इन्द्रियों से सम्बद्ध या सन्निकृष्ट नहीं है तो हम उसको प्रत्यक्ष के द्वारा नहीं जान सकते। समस्त धूमव्यक्तियों तथा समस्त अग्निव्यक्तियों के साथ हमारी इन्द्रियों का सन्निकर्ष होने में व्यावहारिक समस्याएँ तथा लोकानुभव से विरोध है। कोई भी सामान्य व्यक्ति यह मानने के लिए तैयार नहीं होगा कि समस्त धूमव्यक्तियों तथा समस्त अग्निव्यक्तियों के साथ हमारी इन्द्रियों का सम्बन्ध या सन्निकर्ष है। यदि समस्त धूमव्यक्तियों तथा समस्त अग्निव्यक्तियों के साथ हमारी इन्द्रियों का सम्बन्ध या सन्निकर्ष नहीं है, तो हम समस्त धूमव्यक्तियों तथा समस्त अग्निव्यक्तियों को प्रत्यक्ष से किस प्रकार जान सकते हैं और इसी कारण इनके मध्य विद्यमान किसी सम्बन्ध को भी प्रत्यक्ष से कैसे जान सकते हैं। वाचस्पति मिश्र अपना पक्ष रखते हैं कि वस्तुतः समस्त धूमव्यक्तियों तथा समस्त अग्निव्यक्तियों को हम प्रत्यक्ष से ही जानते हैं, परन्तु यह प्रत्यक्ष कुछ अलग तरह का प्रत्यक्ष है। यह प्रत्यक्ष सामान्यजन के अनुभव में आनेवाला प्रत्यक्ष नहीं है। सामान्यजनों तथा

विद्वानों को सभी को समान रूप से समस्त धूमव्यक्तियों तथा समस्त अग्निव्यक्तियों का ज्ञान हुआ करता है क्योंकि अगर समस्त धूमव्यक्तियों तथा समस्त अग्निव्यक्तियों का ज्ञान नहीं हुआ होता तो किसी भी प्रकार से हम समस्त धूमव्यक्तियों तथा समस्त अग्निव्यक्तियों के मध्य विद्यमान व्याप्तिरूपी सम्बन्ध को नहीं जान पाते। हम सभी लोग धूम को देखकर अग्नि का अनुमान करते हैं, यह तथ्य ही इसका निश्चायक रूप में संकेत देता है कि हम किसी न किसी प्रक्रिया से, किसी न किसी प्रकार हम समस्त धूमव्यक्तियों तथा समस्त अग्निव्यक्तियों का ज्ञान अर्जित कर रहे हैं। इस कारण इस समस्या को चार्वाकीय मार्ग का अनुसरण करते हुए खारिज नहीं किया जा सकता। यह नहीं कहा जा सकता कि चूँकि हम समस्त धूमव्यक्तियों तथा समस्त अग्निव्यक्तियों का ज्ञान किसी भी प्रकार से प्राप्त नहीं कर सकते, इस कारण हम समस्त धूमव्यक्तियों तथा समस्त अग्निव्यक्तियों के मध्य विद्यमान व्याप्तिरूपी सम्बन्ध को नहीं जान सकते क्योंकि इस स्थिति में व्यवहारविरोध होगा। यदि हम धूम को देखकर अग्नि का ज्ञान नहीं प्राप्त करते तो धूम को देखकर अग्नि को प्राप्त करने के लिए प्रवृत्त क्यों होते हैं? धूम को देखकर अग्नि के उपादानार्थ होनेवाली सार्वजनीन प्रवृत्ति ही इसका निर्धारण कर देती है कि हम किसी न किसी प्रकार से समस्त धूमव्यक्तियों तथा समस्त अग्निव्यक्तियों के मध्य विद्यमान व्याप्तिरूपी सम्बन्ध का ज्ञान अर्जित कर रहे हैं तथा इस क्रम में समस्त धूमव्यक्तियों तथा समस्त अग्निव्यक्तियों का ज्ञान भी अर्जित कर रहे हैं। हमें अन्वेषणमात्र इतना करना है कि वह कौन सा मार्ग है, कौन सी प्रक्रिया है, जिससे हम समस्त धूमव्यक्तियों तथा समस्त अग्निव्यक्तियों का ज्ञान अर्जित कर रहे हैं? वाचस्पति मिश्र इसी प्रक्रिया का अन्वेषण सामान्यलक्षणसन्निकर्ष के रूप में करते हैं। इस प्रक्रिया पर वाचस्पति मिश्र को इतना भरोसा है कि वे कहते हैं कि विना सामान्यलक्षणसन्निकर्ष को स्वीकार किये व्याप्ति के ज्ञान की आशा करना है वैसा ही है, जैसे कोई मूर्ख स्त्री किसी नपुंसक से विवाह करके पुत्र प्राप्त करने की प्रत्याशा करे।[3] वाचस्पति मिश्र का समाधान लम्बे अरसे तक उसी रूप में दुहराया जाता रहा।

सामान्यलक्षणसन्निकर्ष के द्वारा समस्त व्यक्तियों का प्रत्यक्ष हो जाता है इसका तात्पर्य यह है कि उन व्यक्तियों में विद्यमान सामान्य ही सन्निकर्ष का कार्य सम्पादित कर देता है। उदाहरण के रूप में रसोईघर में जब हम अग्नि व धूम को साथ साथ देखते हैं तो अग्नि के साथ हमारी चक्षुरिन्द्रिय का संयोग है और उस अग्नि में समवेत है अग्नित्व। इस प्रकार अग्नित्व

हमारी चक्षुरिन्द्रिय के साथ सम्बद्ध हो गया। वह अग्नित्व समस्त अग्निव्यक्तियों में विद्यमान है। इस प्रकार इन्द्रियसम्बद्धसामान्य ही सामान्यलक्षणसन्निकर्ष है, जो कि समस्त अग्निव्यक्तियों के साथ चक्षुरिन्द्रिय का सन्निकर्ष है। इसी क्रम से धूम भी हमारी चक्षुरिन्द्रिय से सम्बद्ध है तथा धूम में समवेत होने के कारण धूमत्व भी। इस कारण इन्द्रियसम्बद्धसामान्यरूप सामान्यलक्षणसन्निकर्ष समस्त धूमव्यक्तियों के साथ सम्भव हो जाता है।

कुछ अन्य नैयायिकों ने इन्द्रियसम्बद्धसामान्य के स्थान पर सामान्यजान को सामान्यलक्षणसन्निकर्ष मानने का प्रस्ताव रखा। इसका उद्देश्य यह रहा कि जिस प्रकार सामान्य के इन्द्रियसम्बद्ध रहने की स्थिति में हम उस जाति के समस्त व्यक्तियों को प्रत्यक्ष से जान लेते हैं उसी प्रकार व्यक्ति के इन्द्रियों से सम्बद्ध न होने की स्थिति में भी यदि सामान्य का ज्ञान हो रहा हो यथा यदि सामान्य का स्मरण हो रहा तो भी सामान्यलक्षणसन्निकर्ष के बल से उस सामान्य से विशिष्ट समस्त व्यक्तियों का प्रत्यक्षीकरण सम्भव होता है। परन्तु इसमें एक समस्या है। समस्या यह है कि इस स्थिति में सामान्यलक्षणसन्निकर्ष तथा ज्ञानलक्षणसन्निकर्ष में स्वरूपतः कोई भेद ही नहीं रहेगा क्योंकि दोनों ही सन्निकर्ष ज्ञानस्वरूप हो रहे हैं। तो इसको अलग सन्निकर्ष के रूप में मान्यता किस लिए देना? केवल ज्ञानलंक्षणसन्निकर्ष के द्वारा ही समस्त कार्य सम्भव हो जायेंगे। इसका समाधान देते हुए कहा जाता है कि इन दोनों में एक विशिष्ट अन्तर है, इस कारण दोनों को अलग–अलग किस्म का सन्निकर्ष मानना पड़ता है। वह अन्तर यह है कि सामान्यलक्षणसन्निकर्ष के द्वारा जिस सामान्य का व्यक्ति में जिस सम्बन्ध से ज्ञान हो रहा है, उस सम्बन्ध से उस सामान्य के समस्त आश्रयों का प्रत्यक्षीकरण हो जाता है। इसके विपरीत ज्ञानलक्षणसन्निकर्ष के द्वारा उसी का प्रत्यक्षीकरण सम्भव होता है जिसका ज्ञान पूर्व में हो चुका हो।[4]

इस प्रसङ्ग में सामान्य शब्द के अर्थ पर विशेष ध्यान रखने की आवश्यकता है। 'सामान्य' शब्द का अर्थ हम सामान्यतया जाति से लेते हैं, परन्तु सामान्यलक्षणसन्निकर्ष के प्रसङ्ग में 'सामान्य' शब्द का अर्थ जातिमात्र नहीं है, अपितु यह शब्द अपने व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ को इस प्रसङ्ग में द्योतित करता है। 'सामान्य' शब्द की व्युत्पत्ति है 'समानानां भावः सामान्यम्' समानों का जो भाव है उसको कहा जाता है सामान्य। हालाँकि जाति भी समानों का भाव ही होती है, परन्तु केवल जाति ही ऐसी नहीं है जो कि समानों की

भाव होती हो। उदाहरण के रूप में समस्त दण्डियों का सामान्य होगा दण्ड, परन्तु वह दण्ड जाति नहीं है। समस्त घटवानों का सामान्य है घट, परन्तु वह घट जाति नहीं है। दण्डात्मक या दण्डज्ञानात्मक सामान्यलक्षणसन्निकर्ष के द्वारा समस्त दण्डियों का तथा घटात्मक या घटज्ञानात्मक सामान्यलक्षण सन्निकर्ष के द्वारा समस्त घटवानों का प्रत्यक्ष हो जाता है। यह ध्येय है कि सामान्यलक्षणसन्निकर्ष अपना व्यापार तभी करता है यदि उस इन्द्रिय से उत्पन्न होनेवाले उस धर्म के बोध की सामग्री हो। यदि उस इन्द्रिय से उस धर्म का ज्ञान करानेवाली सामग्री चक्षु:संयोग, आलोकसंयोग आदि नहीं हैं, तो सामान्यलक्षणसन्निकर्ष के बल से उन व्यक्तियों का प्रत्यक्षीकरण सम्भव नहीं होता।

खण्डनखण्डखाद्य के प्रणेता श्रीहर्ष मिश्र ने सामान्यलक्षणसन्निकर्ष को खण्डित करने के लिए कई महत्त्वपूर्ण तर्क प्रस्तुत किये तथा अनेक युक्तिसङ्गत आपत्तियाँ प्रस्तुत कीं। उनकी प्रमुख युक्ति थी यदि सामान्यलक्षणसन्निकर्ष के द्वारा हम समस्त धूमव्यक्तियों तथा समस्त अग्निव्यक्तियों को जान सकते हैं व जान लेते हैं तो इस प्रकार से तो हर कोई सर्वज्ञ हो जायेगा क्योंकि प्रमेयत्व तथा ज्ञेयत्व का भी तथा प्रमेय तथा ज्ञेय का भी अनुमान किया जाता है। इस कारण प्रमेयत्व तथा ज्ञेयत्व के मध्य तथा प्रमेय तथा ज्ञेय के मध्य व्याप्तिरूपी सम्बन्ध को जानना आवश्यक होगा। परन्तु प्रमेय की ज्ञेय में या ज्ञेय में प्रमेय की व्याप्ति को जानने के क्रम में इस सामान्यलक्षणसन्निकर्ष की कृपा से हर व्यक्ति तो सर्वज्ञ हो जायेगा।[5] आशङ्का युक्तिसङ्गत है क्योंकि जिस युक्ति के आधार पर आपने सामान्यलक्षणसन्निकर्ष को स्वीकार किया था, वह युक्ति थी कि धूम व अग्नि के मध्य सम्बन्ध को समस्त धूमव्यक्तियों तथा समस्त अग्निव्यक्तियों को जानना आवश्यक होगा। यदि धूमत्वसामान्यलक्षण प्रत्यासत्ति से समस्त धूम व्यक्तियों का प्रत्यक्षीकरण सम्भव है तथा अग्नित्वसामान्यलक्षणा प्रत्यासत्ति से समस्त अग्निव्यक्तियों का प्रत्यक्षीकरण सम्भव है तो निश्चय ही प्रमेयत्वसामान्यलक्षणा प्रत्यासत्ति के द्वारा समस्त जागतिक वस्तुओं का प्रत्यक्षीकरण सम्भव होगा। इस कारण प्रमेयत्व तथा ज्ञेयत्व की व्याप्ति का ग्रहण करने के काल में ज्ञाता के सर्वज्ञ होने की पारी आयेगी।

इस समस्या से बचने के लिए नैयायिकों की ओर से समाधान प्रस्तुत किया जा सकता है कि प्रमेयत्वरूपी धर्म के प्रत्यक्षीकरण के माध्यम

से यद्यपि जागतिक समस्त धर्मियों का प्रत्यक्षीकरण सम्भव है परन्तु प्रमेयत्वेन रूपेण उनका प्रत्यक्षीकरण सम्भव है, उन उन समस्त व्यक्तियों में विद्यमान समस्त धर्मों को विशेषण बनाते हुए उन समस्त धर्मियों का प्रत्यक्षीकरण सम्भव नहीं है। सर्वज्ञ होने की आपत्ति तब दी जा सकती थी यदि समस्त धर्मियों का तथा उन समस्त धर्मों का दोनों का ही प्रत्यक्षीकरण सम्भव हो रहा होता, जबकि ऐसा है नहीं। हमें समस्त धर्मियों का प्रत्यक्षीकरण भले ही हो रहा हो, परन्तु वह प्रत्यक्षीकरण केवल प्रमेयत्व धर्म को विशेषण बनाते हुए हो रहा है, समस्त धर्मियों के समस्त धर्मों का प्रत्यक्षीकरण नहीं हो रहा है। इस कारण सर्वज्ञत्वापत्ति नहीं दी जा सकती। इस समाधान को सिरे से नकारते हुए श्रीहर्ष कहते हैं कि जिसको आप धर्म कह रहे हैं वह भी तो प्रमेय ही है, इस कारण यदि प्रमेयत्व को विशेषण बनाते हुए समस्त धर्मियों का प्रत्यक्षीकरण हो रहा है, तो निश्चय ही समस्त धर्मों का भी प्रत्यक्षीकरण हो ही रहा है क्योंकि समस्त धर्म भी तो प्रमेयत्व के आश्रय होने के कारण धर्मी भी हैं। यदि किसी अन्य धर्म को विशेषण बनाते हुए वे प्रमेय नहीं हैं तो वे उस रूप से वह वस्तु है ही नहीं। आप नैयायिकों के मत में तो जिस किसी वस्तु की सत्ता है, वह ज्ञेय है तथा प्रमेय है।[6] इस कारण यदि प्रमेयत्व तथा ज्ञेयत्व के मध्य व्याप्ति का ग्रहण सामान्यलक्षणसन्निकर्ष के माध्यम से हो रहा है, तथा उस क्रम में समस्त प्रमेयों तथा ज्ञेयों को हम सामान्यलक्षण–सन्निकर्ष के द्वारा प्रत्यक्ष से ही जान रहे हैं तो हम ईश्वर की तरह सर्वज्ञ हो जायेंगे। इस प्रकार सामान्यलक्षणसन्निकर्ष की स्वीकृति के साथ सर्वज्ञता की आपत्ति जुड़ी हुई है।

गङ्गेशोपाध्याय ने तत्त्वचिन्तामणि में इस समस्या को गम्भीरता से उठाया। उन्होंने श्रीहर्ष के द्वारा उठायी गयी आपत्तियों को गम्भीरता से लिया तथा अनेक अंशों में उनकी आपत्तियों के परिप्रेक्ष्य में न्यायसिद्धान्तों को परिष्कृत किया। श्रीहर्ष के द्वारा उठायी गयी आपत्तियों के परिप्रेक्ष्य में व्याप्ति के ग्रहण के लिए सामान्यलक्षणसन्निकर्ष को स्वीकार करना गङ्गेश उचित नहीं समझते, परन्तु प्रयोजनान्तर के लिए सामान्यलक्षणसन्निकर्ष को स्वीकार करने की आवश्यकता पर बल उन्होंने भी दिया। पूर्वपक्ष के क्रम में गङ्गेश अपना पक्ष प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि सामान्यलक्षणा प्रत्यासत्ति के माध्यम से व्याप्ति का ग्रहण समस्त धूमव्यक्तियों को विषय करता हुआ होता है क्योंकि यदि समस्त धूमव्यक्तियों में व्याप्ति का ग्रहण नहीं हुआ रहता तो

महानस में (रसोईघर में) अग्नि तथा धूम के सम्बन्ध को देखते हुए केवल महानसीय अग्नि का महानसीय धूम के साथ व्याप्ति का ग्रहण सम्भव होने के कारण पर्वत में अग्नि का अनुमान किस प्रकार से सम्भव होता। चूँकि महानसीय अग्नि का महानसीय धूम के साथ सम्बन्ध या व्याप्ति गृहीत हुई है इस कारण महानसीय धूम से महानसीय अग्नि का अनुमान तो सम्भव है, परन्तु पर्वतीय धूम के आधार पर पर्वतीय अग्नि का अनुमान तो सम्भव नहीं है। पर्वतीय धूम तो पहले कभी अनुमाता को दिखा ही नहीं है, फिर किस प्रकार से वह पर्वतीय धूम के आधार पर पर्वतीय अग्नि का अनुमान कर सकेगा? इस कारण यह स्वीकृति आवश्यक है कि महानसीय अग्नि का महानसीय धूम के साथ सम्बन्ध ग्रहण करते समय ही पर्वतीय अग्नि की व्याप्ति भी पर्वतीय धूम में गृहीत हो जाती है। इसीलिए पर्वतीय धूम के आधार पर पर्वतीय अग्नि का अनुमान सम्भव हो पाता है।[7] आगे गङ्गेश स्पष्ट करते हैं कि यह दूसरी बात है कि इस सामान्यलक्षणा प्रत्यासत्ति को हम इन्द्रियसम्बद्धविशेषणतास्वरूप मानें या कुछ अन्य।[8] इन्द्रियसम्बद्धविशेषणता का तात्पर्य है इन्द्रियों से जो सम्बद्ध है उसमें विशेषण बनना। जब हम पुरोविद्यमान धूम को देख रहे होते हैं, उस समय पुरोविद्यमान धूम है इन्द्रियसम्बद्ध, क्योंकि उस धूम के साथ हमारी चक्षुरिन्द्रिय का संयोगात्मक सन्निकर्ष है। उस धूम में विशेषण बन रहा है धूमत्व। वह धूमत्व समस्त धूमव्यक्तियों में विद्यमान है, इस कारण धूमत्वनिष्ठ प्रकारता से निरूपित धर्मिता समस्त धूम व्यक्तियों में है। इस प्रकार समस्त धूम व्यक्तियों के साथ इन्द्रिय का सम्बन्ध बन जाता है, तथा उस प्रकार से समस्त धूमव्यक्तियों का प्रत्यक्षीकरण तथा समान रीति से समस्त अग्निव्यक्तियों का भी प्रत्यक्षीकरण हो जायेगा। इस सामान्यलक्षणा प्रत्यासत्ति को इन्द्रियसम्बद्धविशेषणतास्वरूप मानने पर सुविधा यह होगी कि जो छह लौकिक सन्निकर्ष माने गये हैं, उन्हीं सन्निकर्षों में यह छठा सन्निकर्ष हो जायेगा। अतिरिक्त मानने पर यह सामान्यलक्षणसन्निकर्ष संयोग आदि छह लौकिक सन्निकर्षों में अन्तर्भूत नहीं होगा। ऐसी स्थिति में इसको अलौकिक सन्निकर्ष के रूप में ही मान्यता देनी होगी। इतना तो तय है कि संयोग आदि अन्य लौकिक सन्निकर्षों के माध्यम से अतीत तथा अनागतादि धूम व्यक्तियों का प्रत्यक्षीकरण कदापि सम्भव नहीं है। इस प्रकार से नैयायिकों के(?) मत का उपस्थापन करने के उपरान्त गङ्गेश इस सिद्धान्त का खण्डन कर देते हैं कि अन्य लोग इसको स्वीकार नहीं करते। किस प्रकार से सामान्यलक्षणसन्निकर्ष को स्वीकार

किये विना भी व्याप्ति का ग्रहण हो सकता है, इसको गङ्गेश ने बखूबी दिखाया। कहना यह है कि हम धूम को भी देखते हैं, साथ ही साथ धूमत्व जाति को भी देखते हैं। दोनों ही प्रत्यक्ष से जाने जाते हैं। परन्तु जब हम महानसीय धूम को देख रहे होते हैं तो पर्वतीय धूम को नहीं देख रहे होते, न तो पर्वतीय धूम को देखने की आवश्यकता ही है। होता यह है कि धूम में जो व्याप्ति जानी जा रही है, उस व्याप्ति का अवच्छेदक है धूमत्व। जब हम महानसीय धूम को तथा महानसीय अग्नि को प्रत्यक्ष कर रहे होते हैं, तो व्याप्ति हम समस्त धूमों में नहीं जानते, व्याप्ति का ग्रहण समस्त धूमों में नहीं होता। अपितु केवल महानसीय धूम में ही व्याप्ति का ग्रहण होता है। होता सिर्फ इतना है कि केवल महानसीय धूम में ही व्याप्ति का ग्रहण होने पर भी उस व्याप्ति के अवच्छेदक के रूप में धूमत्व समझा जाता है। वह धूमत्व तो प्रत्यक्ष है ही। पर्वतीय धूम को प्रत्यक्ष से जब हम देखते हैं तो चूँकि व्याप्ति के अवच्छेदक के रूप में धूमत्व को जाना गया था और वही धूमत्व पर्वतीय धूम में प्रत्यक्षीकृत हो रहा है, इस कारण स्मृत होती हुई व्याप्ति पर्वतादि में विद्यमान धूमनिष्ठ व्याप्ति के रूप में ज्ञात होती है। उसी से अनुमिति भी हो जाती है।[9] अगर हम सामान्यलक्षणसन्निकर्ष को न स्वीकार करें तब भी इन्द्रिय से सन्निकृष्ट धूमादि विषयों में धूमत्व को व्याप्ति का अवच्छेदक बनाते हुए 'धूमो वह्निव्याप्य है', इस प्रकार का व्याप्ति के ग्रहण के काल में अनुभव होता है, उसी प्रकार का बाद में व्याप्ति के स्मरण के काल में स्मरण होता है, उसी प्रकार का ही पर्वतादि पक्ष में व्याप्तिविशिष्ट धूमादि के विद्यमानता का भी ज्ञान होता है। उसी पक्षवृत्तिधूमादिज्ञान से अनुमिति भी हो जाती है। व्याप्ति का अनुभव, व्याप्ति का स्मरण तथा पक्षधर्मताज्ञान इन तीनों को समानप्रकारक होना चाहिए, तभी अनुमिति हो सकेगी। अर्थात् जिस धर्म को विशेषण बनाते हुए व्याप्ति का अनुभव हुआ है, उसी धर्म को विशेषण बनाते हुए व्याप्ति का स्मरण होना चाहिए तथा उसी धर्म को विशेषण बनाते हुए पक्षधर्मताज्ञान भी होना चाहिए।[10] अनुमिति के लिए बस इतनी ही आवश्यकता है। इसी कारण हमें 'धूम अग्नि का व्याप्य है' ऐसा ही अनुभव होता है, 'समस्त धूम अग्नि के व्याप्य हैं' ऐसा अनुभव नहीं होता। यदि 'समस्त धूम अग्नि के व्याप्य हैं' ऐसा अनुभव हो रहा होता, तो समस्त धूमों के भान के लिए हमें सामान्यलक्षणसन्निकर्ष को स्वीकार करना आवश्यक होता।[11] परन्तु ऐसा है नहीं। इस कारण सामान्यलक्षणसन्निकर्ष को स्वीकार करने की कोई आवश्यकता नहीं है।

कुछ अन्य स्थलों पर भी समस्याएँ आती हैं, जिनका समाधान करने के लिए पारम्परिक रूप से सामान्यलक्षणसन्निकर्ष को आगे कर दिया जाता है। इसी प्रकार का एक स्थल है। शाब्दबोध का स्थल। जब बोद्धा को किसी शब्द की शक्ति का ग्रहण होता है तथा जब वह व्यक्ति उस शब्द का प्रयोग करता है या उस शब्द के प्रयोग से उस शब्द के अर्थ व्यक्तिविशेष को जानता है, यहाँ पर भी एक समस्या है। समस्या यह है कि बोद्धा को शक्ति का ग्रहण जिस व्यक्ति में हुआ था, उस व्यक्ति से एकदम नवीन अपरिचित अपूर्व व्यक्ति के बोधन के लिए वह व्यक्ति उस शब्द का प्रयोग करता है तथा एकदम नवीन अपरिचित अपूर्व व्यक्ति को उस शब्द के द्वारा समझता है। सवाल यह है कि यह किस प्रकार से सम्भव हो सकता है? क्या यह सम्भव है कि हमें जिस व्यक्ति में शक्ति का ग्रहण हुआ था उस व्यक्ति से अतिरिक्त किसी अन्य व्यक्ति को उस शब्द से हम समझ सकें? सामान्य बुद्धि तो यही कहती है कि शक्ति का ग्रहण जिसमें हुआ था, उसी का बोध कराने के लिए उस शब्द का प्रयोग किया जाना चाहिए, तथा उसी का बोध उस शब्द का प्रयोग करने पर होना चाहिए। जैसे बच्चे को 'गौ' शब्द की शक्ति का ग्रहण कराने के लिए घर में बँधी हुई गाय को अपनी उँगली से संकेत करते हुए हम बताते हैं, कि 'यह गौ है'। परन्तु वह बच्चा केवल घर में बँधी हुई गौ को ही गौ शब्द का वाच्य नहीं समझता, अपितु संसार की समस्त गौव्यक्तियों को 'गौ'शब्द का वाच्य समझता हुआ समस्त गौव्यक्तियों के लिए 'गौ'शब्द का प्रयोग निर्बाध रूप से करता है। उपर्युक्त नियमानुसार तो ऐसा नहीं होना चाहिए था, इस प्रकार इस नियम का उल्लंघन होता दिख रहा है। प्राचीन नैयायिक इस समस्या का समाधान करने के लिए सामान्यलक्षणसन्निकर्ष को आगे कर देते हैं। उनका समाधान है कि सामान्यलक्षणसन्निकर्ष की महिमा से शक्ति के ग्रहण के काल में समस्त व्यक्ति उपस्थित हो जाते हैं, इस कारण समस्त व्यक्तियों में शक्ति का ग्रहण हो जाता है। इस कारण यह आपत्ति नहीं दी जा सकती है कि शक्ति का ग्रहण जिसमें हुआ था उससे भिन्न व्यक्ति का बोधन करने के लिए उस शब्द का प्रयोग किया जा रहा है। उदाहरण के रूप में बच्चे को 'गौ' शब्द की शक्ति का ग्रहण कराने के लिए घर में बँधी हुई गाय को अपनी उँगली से संकेत करते हुए जब हम बताते हैं, कि 'यह गौ है' तो हमारे तथा उस बच्चे के सामने लौकिक सन्निकर्ष की महिमा से भले ही घर की एक ही गाय उपस्थित हो, परन्तु सामान्यलक्षणसन्निकर्ष की महिमा से संसार

की समस्त गौव्यक्तियाँ हमारे तथा उस बच्चे के सामने उपस्थित होती हैं। इस कारण शक्ति का ग्रहण समस्त गौ व्यक्तियों में हो जाता है। इस कारण यह नहीं कहा जा सकता कि शक्ति का ग्रहण जिसमें हुआ था शब्द का प्रयोग उससे भिन्न व्यक्ति का बोधन करने या कराने के लिए किया जा रहा है क्योंकि शक्ति का ग्रहण गो प्रजाति की समस्त गौ व्यक्तियों में हो जाता है तथा उनमें से ही किसी गौव्यक्ति का बोध करने या कराने के लिए हम 'गौ'शब्द का प्रयोग करते हैं।

परन्तु गङ्गेश इस प्रयोजन की पूर्ति के लिए भी सामान्यलक्षणसन्निकर्ष को स्वीकार करने का कोई औचित्य नहीं पाते। उनका कहना है कि इस प्रकार के स्थलों में भी कार्यकारणभाव की मर्यादा के अनुसार यही निर्धारण करना उचित जान पड़ता है कि शक्ति का ज्ञान, शक्ति का स्मरण तथा वाक्यार्थबोध (वाक्य के अर्थ का बोध) इन तीनों में समानप्रकारकत्व होना चाहिए। अर्थात् शक्ति का अनुभव होते समय जो धर्म प्रकार यानी विशेषण के रूप में ज्ञात होता है, शक्ति का स्मरण होते समय भी वही धर्म विशेषण के रूप में आता है, तथा वाक्य का अर्थ जब हम समझते हैं तो वही धर्म फिर से विशेषण के रूप में आता है। अभिप्राय यह है कि हमको शक्ति का ग्रहण होने के लिए उस जाति की समस्त व्यक्तियों का ज्ञान होना आवश्यक नहीं है। जिस प्रकार अनुमान के स्थल में जो धर्म व्याप्ति का अवच्छेदक बनते हुए व्याप्ति के ग्रहण के काल में व्याप्य व्यक्ति में विशेषण के रूप में प्रतीत होता है, वही धर्म व्याप्ति के स्मरण के काल में भी विशेषण के रूप में प्रतीत होता है, तथा वही धर्म पक्षधर्मताज्ञान में भी विशेषण के रूप में प्रतीत होता है। उदाहरण के साथ जोड़कर इसको इस रूप में समझा जा सकता है कि पर्वत में अग्नि का अनुमान करने के लिए पर्वत में धूम की विद्यमानता का ज्ञान आवश्यक है, यही पर्वत में धूम की विद्यमानता का ज्ञान ही पक्षधर्मताज्ञान है।

इस पक्षधर्मताज्ञान में धूमत्व प्रकार के रूप में यानी विशेषण के रूप में प्रतीत होता है। वही धूमत्व प्रकार के रूप में यानी विशेषण के रूप में तब भी प्रतीत हुआ था जब महानस में धूम में व्याप्ति का ग्रहण हुआ था। पुनः वही धूमत्व प्रकार के रूप में यानी विशेषण के रूप में तब भी प्रतीत हुआ था जब पर्वत धूम को देखकर हमें व्याप्ति का स्मरण हुआ था। इस प्रकार व्याप्तिग्रह, व्याप्तिस्मरण तथा पक्षधर्मताज्ञान इन तीनों की समानप्रकारकतामात्र ही अनुमान के लिए आवश्यक है। ठीक उसी प्रकार शाब्दज्ञान की प्रक्रिया

भी है। यहाँ पर भी शक्तिग्रह, शक्तिस्मरण तथा वाक्यार्थबोध तीनों की समानप्रकारकतामात्र ही शाब्द ज्ञान के लिए आवश्यक है। शक्ति का ग्रहण होते समय जिस धर्म को प्रकार (विशेषण) बनाते हुए शक्तिज्ञान हुआ है, बाद में शक्तिस्मरण होते समय उसी धर्म का विशेषण के रूप में भान होगा, पुनः उसी धर्म का विशेषण के रूप में भान शाब्दज्ञान यानी वाक्यार्थबोध में होगा। यह प्रश्न हो सकता है कि जिस व्यक्ति को पहले कभी देखा या जाना नहीं गया है उस व्यक्ति का ज्ञान शाब्दज्ञान में तथा अनुमिति में किस प्रकार से सम्भव हो सकेगा? तो इसमें भी कोई असुविधा नहीं है कि शाब्दज्ञान में योग्यता के बल से अपूर्वव्यक्ति का भान सम्भव है तथा अनुमान में पक्षधर्मता के बल से अपूर्व व्यक्ति का भान सम्भव है।[12] इस प्रकार शक्तिग्रह तथा शाब्दबोध की किसी समस्या का समाधान करने के लिए भी गङ्गेशोपाध्याय सामान्यलक्षणसन्निकर्ष को स्वीकार करने का कोई औचित्य नहीं समझते। सामान्यलक्षणसन्निकर्ष को स्वीकार करने के लिए एक अन्य आवश्यकता की ओर भी सङ्केत किया जाता है। पर्वत में अग्नि का अनुमान करने के समय हमें अनुमितिरूपी ज्ञान होता है 'पर्वतः वह्निमान्' (पर्वत अग्निमान् है) इस प्रकार का ज्ञान विशिष्टज्ञान है, अग्नि से विशिष्ट पर्वत का भान इस अनुमितिरूपी ज्ञान में हो रहा है। इसमें एक तकनीकी समस्या है, जो भी विशिष्टज्ञान है उस विशिष्टज्ञान के पूर्व विशेषणज्ञान का होना आवश्यक है, विना विशेषण को जाने हमको विशिष्टज्ञान नहीं हो सकता। 'पर्वतः वह्निमान्' (पर्वत अग्निमान् है) यह भी एक विशिष्टज्ञान है इस कारण इस विशिष्टज्ञान के पूर्व भी विशेषणज्ञान को होना चाहिए। वह विशेषणज्ञान किसी अन्य माध्यम से नहीं हो सकता, इस कारण उसके लिए सामान्यलक्षणसन्निकर्ष को स्वीकार करना पड़ेगा। परन्तु गङ्गेशोपाध्याय इसके लिए भी सामान्यलक्षणसन्निकर्ष को स्वीकार करना उचित नहीं मानते। इसका कारण यह है कि विशिष्टज्ञान के लिए विशेषणज्ञान को कारण माना जाना उचित है या नहीं यह निर्धारण ही कठिन है। इसमें यह कहा जा सकता है कि विशिष्टज्ञान के लिए विशेषणज्ञान कारण नहीं है अपितु विशेषणतावच्छेदकप्रकारक ज्ञान कारण है। 'पर्वतः वह्निमान्' (पर्वत अग्निमान् है) इस विशिष्टज्ञान के पूर्व विशेषणज्ञान के रहने या न रहने के बारे में भले ही सन्देह हो, परन्तु विशेषणतावच्छेदकप्रकारक ज्ञान के रहने के बारे में किसी को भी सन्देह नहीं है क्योंकि यहाँ पर विशेषणतावच्छेदक होता है

वह्नित्व (अग्नित्व) उसको विशेषण के रूप में जानते हुए हमें व्याप्तिस्मरण तथा परामर्श के क्रम में ज्ञान हो ही चुका है। दूसरे जो भी विशिष्टज्ञान हैं वे विशेषणज्ञान से जन्य होते हैं, इसका निर्धारण करना भी मुश्किल है क्योंकि इसके लिए हम जिन उदाहरणों को प्रस्तुत करेंगे, वे ज्ञान तो स्वयं ही केवल विशिष्टज्ञान नहीं हैं अपितु विशिष्टवैशिष्ट्यज्ञान–विशिष्ट के वैशिष्ट्य का ज्ञान हैं। उदाहरण के रूप में 'दण्डी पुरुषः' इस ज्ञान को विशिष्टज्ञान के बतौर प्रस्तुत किया जाता है। अगर हमें दण्ड का ज्ञान नहीं है तो 'दण्डी पुरुषः' इस प्रकार का विशिष्टज्ञान नहीं उत्पन्न हो सकता। इस कारण विशिष्टज्ञान के प्रति विशेषणज्ञान को कारण मानना चाहिए, ऐसी युक्ति दी जाती है। परन्तु यह युक्ति कमजोर है। गङ्गेशोपाध्याय इसी बात को उपस्थापित करना चाहते हैं कि वस्तुतः 'दण्डी पुरुषः' इस ज्ञान को विशिष्टज्ञान के रूप में प्रस्तुत करते हुए समस्त विशिष्टज्ञानों के प्रति विशेषणज्ञान कारण हुआ करता है, ऐसा निर्धारण नहीं किया जा सकता। क्योंकि यह ज्ञान एक सामान्य विशिष्टज्ञान नहीं है अपितु विशिष्टवैशिष्ट्यज्ञान है। इस ज्ञान में पुरुषत्व से विशिष्ट पुरुष में दण्ड का वैशिष्ट्य बोधित हो रहा है। इस प्रकार के विशिष्टवैशिष्ट्यज्ञान के प्रति विशेषणज्ञान को कारण मानने की अपेक्षा विशेषणतावच्छेदकप्रकारक ज्ञान को कारण अधिक उचित है। सङ्क्षेप में कहा जाये तो कोई व्यक्ति जो दण्डत्व से परिचित है उसको ऐसा ज्ञान सम्भव होता है। 'पर्वतः वह्निमान्' (पर्वत अग्निमान् है) यह ज्ञान भी इसी प्रकार का विशिष्टवैशिष्ट्यज्ञान ही है, इसके लिए विशेषणतावच्छेदकप्रकारक ज्ञान को ही कारण मानना उचित है। वैसा ज्ञान तो सामान्यलक्षणसन्निकर्ष को स्वीकार किये विना भी सम्भव होता है। इस कारण सामान्यलक्षणसन्निकर्ष को इस प्रयोजन की पूर्ति के लिए भी स्वीकार करने का कोई औचित्य नहीं है।[13]

इसी क्रम में गङ्गेशोपाध्याय श्रीहर्ष के द्वारा उठायी गयी समस्या को भी उठाते हैं कि यदि सामान्यलक्षणसन्निकर्ष को व्याप्ति का ग्रहण करने के लिए स्वीकार किया जाये तो प्रमेयत्वेन रूपेण व्याप्ति का ग्रहण करने की प्रक्रिया में जो ज्ञाता है वह सर्वज्ञ होने लगेगा। उन्होंने आगे श्रीहर्ष की अन्य आपत्तियों को भी उसी क्रम में उठाया है।[14]

सामान्यलक्षणसन्निकर्ष को स्वीकार करने के लिए न्यायलीलावती के लेखक वल्लभाचार्य ने एक नवीन युक्ति प्रस्तुत की थी।[15] उनका पक्ष है कि पाक आदि को करने के लिए हमारी इच्छा होती है, इसी प्रकार सुख के

लिए भी हमारी इच्छा होती है। ये दोनों ही सामान्यलक्षणसन्निकर्ष न स्वीकार करने पर सम्भव नहीं होंगे क्योंकि तण्डुल आदि का जो पाक अभी हुआ नहीं है, उसके बारे में इच्छा नहीं हो सकती क्योंकि वह किसी भी प्रकार से ज्ञात नहीं है। तथा जो पाक हो चुका है उस पाक को करने की इच्छा की कोई आवश्यकता नहीं है। इसी प्रकार जो सुख प्राप्त है, उस सुख के लिए इच्छा नहीं होती। यह हम सबका अनुभव है कि अप्राप्त सुखादि विषयक ही इच्छा होती है। परन्तु अप्राप्त सुख आदि को जानने के लिए हमारे पास कोई साधन तो है नहीं, तो किस प्रकार से अप्राप्त सुख आदि को प्राप्त करने के लिए हमारी इच्छा हो सकती है। इच्छा के लिए ज्ञान का होना आवश्यक है। हमारी इच्छा किसी ऐसी वस्तु के विषय में नहीं हो सकती जिसको हम जानते नहीं क्योंकि नियम है कि 'ज्ञानजन्या भवेदिच्छा' इच्छा ज्ञान से जन्य होती है। यदि सामान्यलक्षणसन्निकर्ष को स्वीकार कर लिया जाये तो इस समस्या से मुक्ति पायी जा सकती है– सुखत्व आदि सामान्यलक्षणसन्निकर्ष के द्वारा समस्त सुखों का ज्ञान हो जाता है, उसमें सिद्ध को छोड़कर असिद्ध को विषय करनेवाली इच्छा सम्भव है।[16] परन्तु गङ्गेशोपाध्याय इस प्रक्रिया से भी सामान्यलक्षणसन्निकर्ष को स्वीकार करने में कोई आधार नहीं देखते। वे वल्लभाचार्य के मत का यह कहकर खण्डन कर देते हैं कि असिद्ध का ज्ञान न होने पर भी सिद्धविषयक ज्ञान से ही इच्छा तथा प्रवृत्ति सम्भव हैं, इच्छा तथा प्रवृत्ति का स्वभाव ही है कि वे असिद्ध विषयक ही उत्पन्न होते हैं।[17] इस बात को इस प्रकार से भी देखा जा सकता है कि भोजन आदि को पकाने के लिए हमारी इच्छा होती है, परन्तु हमेशा भोजन एक जैसा ही तो नहीं पकता। कभी अधिक अच्छा भोजन पकता है, कभी कम अच्छा। इस कारण यह कहना उचित नहीं है कि सामान्यलक्षणसन्निकर्ष के द्वारा असिद्धविषयक ज्ञान के द्वारा हमारी प्रवृत्ति पाक में होती है क्योंकि ऐसी स्थिति में तो सामान्यलक्षणसन्निकर्ष के माध्यम से हम हमारी पाकक्रिया कैसी होगी इसको पहले ही जान लेंगे। जबकि वस्तुस्थिति इसके विपरीत है। कैसा पाक होगा? इसका पता ठीक–ठीक तो हमें पाक सम्पन्न हो जाने के बाद ही हो पाता है। इस कारण हमको सामान्यलक्षणसन्निकर्ष को स्वीकार करने की आवश्यकता नहीं है। वस्तुतः तो प्रवृत्ति के लिए इच्छा तथा इच्छा के लिए ज्ञान की आवश्यकता होती है। तथा इनमें परस्पर कार्यकारणभाव समानप्रकारकत्वेन होता है। ज्ञान में जो प्रकार है, इच्छा में भी वही प्रकार के

रूप में आयेगा, तथा फिर वही प्रवृत्ति में भी प्रकार के रूप में आयेगा। इस कारण यज्जातीय सुख का ज्ञान है, तज्जातीय सुख विषयिणी इच्छा होती है, तथा तज्जातीय सुखविषयिणी प्रवृत्ति होती है। इस कारण कोई भी असुविधा नहीं है।[18] इस कारण वल्लभाचार्य की युक्तियों के आधार पर सामान्यलक्षणसन्निकर्ष को स्वीकार करने की आवश्यकता नहीं प्रतीत होती।

इस तरह गङ्गेशोपाध्याय इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि सामान्यलक्षणसन्निकर्ष को स्वीकार करने की आवश्यकता न तो व्याप्ति का ग्रहण करने के लिए है, न तो शक्तिग्रहणार्थ, न तो विशेषणज्ञान के लिए और न तो पाकादि में प्रवृत्ति के लिए असिद्ध पाकादि के ज्ञान के लिए है, इस प्रकार प्रतिपादन करने के उपरान्त सामान्यलक्षणसन्निकर्ष की एक नवीन आवश्यकता बताते हैं। वे कहते हैं कि सामान्यलक्षणसन्निकर्ष को स्वीकार करना इस कारण आवश्यक है क्योंकि यदि सामान्यलक्षणसन्निकर्ष नहीं है तो अनुकूल तर्क आदि के न रहने की स्थिति में धूम में जो व्यभिचार का संशय होता है, उसका स्पष्टीकरण नहीं दिया जा सकेगा। यह सार्वजनीन अनुभव है कि जब हमारे पास व्याप्ति का निश्चायक कोई तर्क आदि नहीं होता तो हमें व्यभिचार का सन्देह होता है। जैसे जब तक सहायक तर्कादि के न रहने के कारण हम धूम अग्नि का व्याप्य है ऐसा निर्णय नहीं कर पाये हैं, हमें सन्देह होता है कि धूम अग्नि का व्यभिचारी है या नहीं। यह सन्देह विना सामान्यलक्षणसन्निकर्ष के सम्भव नहीं है क्योंकि जो जो धूम हमने देखा है उन समस्त धूमों में अग्नि के सम्बन्ध का हमें निश्चय है तथा जो कालान्तर में या देशान्तर में विद्यमान धूम नहीं देखा है उनके विषय में तो हमें कोई प्रमाण ही उपलब्ध न होने के कारण वे तो ज्ञात ही नहीं है। इस कारण न तो ज्ञात धूम मे व्यभिचार का सन्देह हो सकता है और न तो अज्ञात धूम में ही। इस सार्वजनीन लोकानुभव की व्याख्या करने के लिए यह आवश्यक है कि हम सामान्यलक्षणसन्निकर्ष को स्वीकार करें।[19]

गङ्गेश के द्वारा व्याप्ति का ग्रहण करने के लिए जो मार्ग सुझाया गया, उसके आलोक में इतना सुस्पष्ट दिखता है कि चार्वाक तथा अन्य संदेहवादी दार्शनिकों के द्वारा व्याप्ति का ग्रहण न हो सकने के मूल में निहित अवधारणा कि समस्त धूमव्यक्तियों तथा समस्त अग्निव्यक्तियों के मध्य विद्यमान व्याप्तिरूपी सम्बन्ध को जानने के लिए समस्त धूमव्यक्तियों तथा समस्त अग्निव्यक्तियों को जानना आवश्यक है, उसका गङ्गेशोपाध्याय

सीधा–सीधा खण्डन कर देते हैं। यह अवधारणा ही अपने आप में किसी दृढ़ भित्ति पर आश्रित नहीं है, इस कारण हम यह स्वीकार करने के लिए बाध्य नहीं हैं कि समस्त धूमव्यक्तियों तथा समस्त अग्निव्यक्तियों के मध्य विद्यमान व्याप्तिरूपी सम्बन्ध को जानने के लिए समस्त धूमव्यक्तियों तथा समस्त अग्निव्यक्तियों को जानना आवश्यक है। यदि हम इस पूर्वावधारणा को ठुकरा दें तो व्याप्ति का ग्रहण करने के लिए सामान्यलक्षणसन्निकर्ष को स्वीकार करने की कोई आवश्यकता शेष नहीं रहती। यही कार्य गङ्गेशोपाध्याय ने किया। वाचस्पति मिश्र इत्यादि दार्शनिकों ने इस अवधारणा को विना विचार किये ही स्वीकार कर लिया था। परन्तु गङ्गेश ने पाया कि व्याप्तिसंशय की समस्या अवश्य ऐसी है कि इसको सुलझाने के लिए हमको सामान्यलक्षणसन्निकर्ष की आवश्यकता शेष रहती है।

गङ्गेशोपाध्याय ने व्याप्ति का ग्रहण करने के लिए सामान्यलक्षणसन्निकर्ष को स्वीकार करने की कोई आवश्यकता नहीं समझी, परन्तु अनुकूल तर्क आदि के न रहने की स्थिति में सार्वजनीन लोकानुभव में आनेवाले धूमधर्मिक व्यभिचारसन्देह का सम्पादन करने के लिए सामान्यलक्षणसन्निकर्ष को स्वीकार करने की आवश्यकता महसूस की।

रघुनाथ शिरोमणि इस विषय में अपने मौलिक चिन्तन के आधार पर सामान्यलक्षणसन्निकर्ष को इस कार्य के लिए भी स्वीकार करने की कोई आवश्यकता नहीं समझते। उनका कहना है कि 'प्रसिद्ध महानसीय धूमादि में व्याप्ति का ग्रहण ही हो चुका है इस कारण उनमें सन्देह नहीं हो सकता' इस निष्कर्ष पर सोचना चाहिए। इस विषय में चिन्तनीय यह है कि प्रसिद्ध महानसीय धूमादि में व्याप्ति का ग्रहण किस रूप में हुआ है? क्या व्याप्ति का ग्रहण धूमत्वेन हुआ है या एतद्धूमत्वेन हुआ है? यदि व्याप्ति का ग्रहण धूमत्वेन हुआ है तब तो यह कथन युक्तिसङ्गत होता कि 'प्रसिद्ध महानसीय धूमादि में व्याप्ति का ग्रहण ही हो चुका है इस कारण उनमें सन्देह नहीं हो सकता'। परन्तु पते की बात यह है कि व्याप्ति का ग्रहण धूमत्वेन हुआ ही नहीं है। यदि द्वितीय पक्ष रखें कि 'व्याप्ति का ग्रहण एतद्धूमत्वेन हुआ है' तो व्यभिचार का सन्देह होने में समस्या क्या है? क्योंकि व्यभिचार का सन्देह हो रहा है धूमत्व को अवच्छेदक बनाकर और निश्चय है एतद्धूमत्वेन। एतद्धूमत्वेन निश्चय तो एतद्धूमत्वेन व्यभिचार सन्देह का ही विरोधी हो सकता है, धूमत्वेन व्यभिचार सन्देह का विरोधी नहीं हो सकता। इस कारण इस पक्ष में

व्यभिचारसन्देह अनुपपन्न नहीं है।[20] रघुनाथ शिरोमणि समस्या का पूरा का पूरा पहलू ही बदल देते हैं। गङ्गेशोपाध्याय के द्वारा उठायी गयी समस्या दूसरे दृष्टिकोण से देखने पर समस्या ही नहीं रह जाती। सङ्क्षेप में कहें तो 'धूम अग्नि का व्याप्य है या नहीं' यह सन्देह व्याप्ति का सन्देह नहीं है, हालाँकि प्रथमदृष्ट्या ऐसा ही प्रतीत होता है, बल्कि यह सन्देह व्याप्यतावच्छेदकत्व का सन्देह है। इस प्रकार का सन्देह करते हुए हम यह सन्देह नहीं कर रहे हैं कि धूम अग्नि का व्याप्य है या नहीं, बल्कि हम सन्देह यह कर रहे हैं कि धूम में रहनेवाली अग्नि की व्याप्यता का अवच्छेदक क्या है? यदि धूम में व्याप्ति का निश्चय होते समय उस व्याप्ति के अवच्छेदक के रूप में धूमत्व का पता चला है अर्थात् यदि धूमत्व का व्याप्यतावच्छेदकत्व ज्ञात हुआ है, तब तो उक्त सन्देह नहीं हो सकता क्योंकि सन्देह में धूमत्व के व्याप्यतावच्छेदकत्व का सन्देह है तथा धूमत्व के व्याप्यतावच्छेदकत्व का निश्चय हो चुका है। परन्तु ऐसा तो है नहीं, धूमत्वेन धूम में व्याप्ति का निश्चय नहीं हुआ है, अपितु एतद्धूमत्वेन धूम में व्याप्ति का निश्चय हुआ है। इस कारण उक्त सन्देह होने में कोई असुविधा नहीं है।

पाश्चात्त्य दर्शनपरम्परा में यह युक्ति प्रसिद्ध है कि बहुत सारी दार्शनिक समस्याएँ वस्तुतः हमारे द्वारा भाषा के असावधान प्रयोग से जन्म लेती हैं, भाषा की केवल उस गलती को सुधार कर हम अनेक दार्शनिक समस्याओं को सुलझा सकते हैं। रघुनाथ शिरोमणि यहाँ पर वही कार्य कर रहे हैं। उन्होंने बताया कि वस्तुतः हम व्याप्ति का सन्देह ही नहीं कर रहे हैं अपितु व्याप्यतावच्छेदकत्व का सन्देह कर रहे हैं। सारी समस्या इस कारण हमारे सामने आ रही है क्योंकि हम भ्रान्ति में फँसे हैं कि यह सन्देह व्याप्ति का सन्देह है। इस प्रकार रघुनाथ शिरोमणि गङ्गेशोपाध्याय द्वारा प्रस्तावित रीति से भी सामान्यलक्षणसन्निकर्ष को स्वीकार करने की आवश्यकता नहीं समझते।

रघुनाथ शिरोमणि ने नदिया में वासुदेव सार्वभौम से नव्यन्याय का अध्ययन करने के बाद मिथिला में जाकर पक्षधर मिश्र से भी नव्यन्याय का अध्ययन किया था, ऐसी प्रसिद्धि है। पक्षधर मिश्र ने भी गङ्गेशोपाध्याय की तत्त्वचिन्तामणि पर आलोक नामक व्याख्या का प्रणयन किया था। अनेकांश में यह ग्रन्थ अभी तक अप्रकाशित ही है। रघुनाथ शिरोमणि के पक्षधर मिश्र का शिष्य होने पर भी इन दोनों के मध्य प्रथमतः शास्त्रार्थ हुआ था, ऐसी

प्रसिद्धि है। शास्त्रार्थ के बाद पक्षधर मिश्र ने रघुनाथ शिरोमणि को अपने शिष्य के रूप में स्वीकार किया था। उस प्राथमिक शास्त्रार्थ में ही रघुनाथ शिरोमणि ने सामान्यलक्षणसन्निकर्ष का खण्डन कर दिया था। उलाहना सा देते हुए बालक रघुनाथ शिरोमणि से पक्षधर मिश्र ने कहा –

वक्षोजपानकृत् काण! संशये जाग्रति स्फुटम्।
सामान्यलक्षणा कस्मादकस्मादपलप्यते।।

अर्थात् माँ का दूध पीनेवाले काने बच्चे! स्पष्ट रूप में सन्देह के जागृत रहने पर भी तुम सामान्यलक्षणसन्निकर्ष का अकस्मात् निषेध कैसे कर सकते हो।[21] ध्येय है कि गङ्गेशोपाध्याय ने व्याप्तिसंशय के सम्पादनार्थ सामान्यलक्षणसन्निकर्ष को स्वीकार करने की आवश्यकता बतायी।

पक्षधर मिश्र ने सामान्यलक्षणसन्निकर्ष को स्वीकार करने की आवश्यकता पर उपायान्तर से भी बल दिया। वे सामान्याभाव की प्रतीति के लिए सामान्यलक्षणसन्निकर्ष को स्वीकार करने की आवश्यकता है, ऐसा प्रस्तावित करते हैं। उनका कहना है कि हमें घटसामान्याभाव की प्रतीति होती है। हमें प्रत्यक्ष से देखते हुए पता चलता है कि भूतल पर कोई भी घट नहीं है। यह स्मरणीय है कि यदि हमको घट का ज्ञान न हो, यानी यदि हम घट से परिचित न हों तो हम यह नहीं जान सकते कि भूतल पर घट नहीं है। यानी कि अभाव को जानने के लिए उसके प्रतियोगी को जानना आवश्यक है। इसी कारण सामान्य तर्कबुद्धि के अनुसार ऐसा सिद्धान्ततः मान लिया जाता है कि अभावज्ञान के प्रति प्रतियोगिज्ञान कारण है। भूतल पर जब हम घटाभाव को देखते हैं, तो हमें पता चलता है कि कोई भी घट भूतल पर नहीं है। संसार के समस्त घटों का अभाव हमको प्रत्यक्ष से ज्ञात होता है। इस घटसामान्याभाव के प्रतियोगी हैं समस्त घट। इस कारण घटसामान्याभाव को जानने के लिए आवश्यक है कि हम संसार के समस्त घटों को जानें, अन्यथा प्रतियोगिज्ञान न होने के कारण घटसामान्याभाव का किस प्रकार से सम्भव होगा? कोई दूसरा उपाय समस्त घटों को जानने का न होने के कारण यही मानना उचित दिखता है कि सामान्यलक्षणसन्निकर्ष के द्वारा समस्त घटों का ज्ञान सम्भव होता है।[22] इस कारण घटसामान्याभाव की प्रतीति सम्भव होती है। रघुनाथ शिरोमणि पक्षधर मिश्र की इस युक्ति को भी सिरे से नकार देते हैं। वे कहते हैं कि यदि अभावज्ञान के लिए प्रतियोगिज्ञान कारण होता, तब तो घटसामान्याभाव के ज्ञान के लिए समस्त

घटों का ज्ञान आवश्यक होने के कारण उनका भान करने के लिए सामान्यलक्षणसन्निकर्ष को स्वीकार करने की आवश्यकता होती। परन्तु ऐसा तो है ही नहीं। अभावज्ञान के लिए प्रतियोगिज्ञान कारण ही नहीं होता, फिर घटसामान्याभाव के ज्ञान के लिए समस्त घटों के ज्ञान की अपेक्षा ही नहीं है। अभावज्ञान के लिए प्रतियोगिज्ञान कारण नहीं होता अपितु प्रतियोगितावच्छेदकप्रकारकज्ञान कारण होता है। न तो अभाव के ज्ञान के लिए प्रतियोगिज्ञान कारण होता है और न तो लौकिकप्रत्यक्ष के लिए ही। जो दार्शनिक सामान्यलक्षणा सन्निकर्ष को स्वीकार करेंगे उनको स्वयं यह मानना पड़ेगा कि सामान्यलक्षणा प्रत्यासत्ति के माध्यम से अभावों का भी प्रत्यक्ष सम्भव है, उस सामान्यलक्षणा प्रत्यासत्ति के माध्यम से अभाव का ज्ञान होने के पूर्व तो प्रतियोगी का ज्ञान नहीं ही रहेगा। इस कारण सामान्यलक्षणसन्निकर्ष की वकालत करनेवाला स्वयं ही अभावज्ञान को विना प्रतियोगिज्ञान के सम्भव मान रहा है। दूसरे 'यह' इस प्रकार से अभाव का प्रत्यक्ष करने के लिए भी प्रतियोगी के ज्ञान की अपेक्षा कतई नहीं होती। इसी कारण तो तेज के अभावात्मक अन्धकार का 'यह अन्धकार है' ऐसा प्रत्यक्ष करने के लिए प्रतियोगी तेज को जानने की आवश्यकता नहीं होती।[23] वस्तुतः पक्षधर मिश्र की यह युक्ति, गङ्गेश की पूर्वपक्ष के रूप में प्रस्तावित इस युक्ति 'अग्नि आदि विशेषणों का ज्ञान होने के लिए सामान्यलक्षणसन्निकर्ष को स्वीकार करना चाहिए' के समान ही है। इसी कारण समाधान भी समान ही दिया गया है। अभावज्ञान एक प्रकार का विशिष्टवैशिष्ट्यज्ञान ही है, जिस प्रकार विशिष्टवैशिष्ट्यज्ञान के लिए विशेषणतावच्छेदकप्रकारक ज्ञान की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार अभावज्ञान के लिए भी प्रतियोगितावच्छेदकप्रकारक ज्ञान की आवश्यकता होती है। जिस प्रकार विशिष्टवैशिष्ट्यज्ञान के लिए विशेषणज्ञान आवश्यक नहीं होता, तथा इस कारण विशेषणज्ञान के सम्पादन के लिए सामान्यलक्षणसन्निकर्ष को स्वीकार करने की आवश्यकता नहीं रहती। ठीक उसी प्रकार अभावज्ञान के लिए प्रतियोगिज्ञान आवश्यक नहीं होता, इसी कारण प्रतियोगिज्ञान के सम्पादन के लिए सामान्यलक्षणसन्निकर्ष को स्वीकार करने की आवश्यकता नहीं रहती। इसके लिए रघुनाथ उदाहरण देते हैं कि अन्धकार तो तेजोविशेष का सामान्याभाव है, परन्तु उस अभाव का प्रत्यक्ष हमको तब भी होता है, जब हमें यह नहीं ज्ञात रहता कि अन्धकार तेजोविशेष का सामान्याभाव है। इस प्रकार प्रतियोगिज्ञान के विना भी

अन्धकार रूपी अभाव (तेजोविशेषसामान्याभाव) का प्रत्यक्ष तो होता ही है। इस प्रकार पक्षधर मिश्र के द्वारा प्रदर्शित रीति से भी सामान्यलक्षणसन्निकर्ष को स्वीकार करने की आवश्यकता नहीं है।

अनेक बार प्रागभाव का प्रत्यक्ष करने के लिए प्रतियोगिज्ञान के सम्पादन के लिए सामान्यलक्षणसन्निकर्ष को स्वीकार करने की आवश्यकता है, ऐसा कह दिया जाता है। यह मत भी उपर्युक्त युक्ति के आधार पर ही खण्डित हो जाता है क्योंकि प्रागभाव की प्रतीति भी प्रागभाव के प्रतियोगी घट आदि में विद्यमान घटत्वादिप्रकारक ज्ञान से ही साध्य है।[24] दूसरी बात प्रागभावनामक अभावविशेष को स्वीकार करने में ही कोई प्रमाण नहीं है। फिर उसके प्रतियोगी के भान के लिए सामान्यलक्षणसन्निकर्ष को स्वीकार करने का क्या औचित्य है?[25]

तत्त्वचिन्तामणि के एक अन्य व्याख्याकार प्रगल्भ मिश्र सामान्यलक्षणसन्निकर्ष को स्वीकार करने के लिए एक विचित्र युक्ति देते हैं। उनकी युक्ति है कि यदि हम अनुमान करें कि 'इदं गोपदशक्यतावच्छेदकं गोत्वात्' यह (गोत्व) गोपद की शक्यता का अवच्छेदक है क्योंकि यह गोत्व है, तो इस अनुमान में गोत्व को तादात्म्य सम्बन्ध से हेतु बनाया गया है तथा गोत्व का गोपदशक्यतावच्छेदकत्व सिद्ध करना है। परन्तु इस अनुमान का सम्पादन करने के लिए गोत्व में गोपदशक्यतावच्छेदकत्व की व्याप्ति का ग्रहण होना प्राथमिक रूप से आवश्यक है। इसी प्रकार 'अयं सास्नावान् गोत्वात्' यह (पुरोविद्यमान गौ व्यक्ति) सास्नावान् है गोत्व के कारण, इस प्रकार के अनुमान का सम्पादन करने के लिए भी हमको गोत्व में सास्ना की व्याप्ति का ग्रहण होना प्राथमिक रूप से आवश्यक है। परन्तु इसमें समस्या यह है कि गोत्व में रहनेवाली व्याप्ति का अवच्छेदक गोत्वत्व होगा, यानी गोत्वत्व व्याप्यतावच्छेदक होगा। गोत्वत्व का अर्थ है सकल गोव्यक्तियों में समवेत होते हुए गो से अन्य व्यक्तियों में समवेत न होना। गोत्व नामक धर्म समस्त गो व्यक्तियों में समवेत है तथा गौ व्यक्तियों से अन्य में समवेत नहीं है, इसका ज्ञान किस प्रकार से होगा? यह किसी अन्य प्रक्रिया से सम्भव नहीं है। गोत्व धर्म के सकल गोव्यक्तियों में समवेत होने का ज्ञान तो केवल सामान्यलक्षणसन्निकर्ष के द्वारा ही हो सकता है। इस कारण सामान्यलक्षणसन्निकर्ष को स्वीकार करना चाहिए, ऐसा प्रगल्भ मिश्र कहते हैं।

रघुनाथ शिरोमणि इसका खण्डन करते हुए कहते हैं कि जब हम गोत्व को हेतु के रूप में उपस्थापित करते हैं तो गोत्वत्व व्याप्यता का

अवच्छेदक नहीं होता है, अपितु 'गोनिष्ठात्यन्ताभावाप्रतियोगित्वे सति गोसमवेतत्व' व्याप्यता का अवच्छेदक होता है। अभिप्राय है कि गो में विद्यमान अत्यन्ताभाव का प्रतियोगी न होते हुए समवेत होना रूपी जो धर्म है उसी को व्याप्यतावच्छेदक मानना चाहिए। अथवा गवेतरासमवेतत्व अर्थात् गो से इतर में असमवेत होना रूपी धर्म को ही व्याप्यतावच्छेदक मान लेना चाहिए। इसमें समस्तगोसमवेतत्व को जोड़ने की आवश्यकता नहीं है। यदि गोत्वत्व को व्याप्यतावच्छेदक मानने का पक्ष रखा जाये, तो उसका ग्रहण तो सामान्यलक्षणसन्निकर्ष को स्वीकार कर लेने पर भी सम्भव नहीं है।[26] इस प्रकार सामान्यलक्षणसन्निकर्ष को स्वीकार करने के लिए विभिन्न नैयायिकों ने जो भी युक्तियाँ दी थीं, रघुनाथ शिरोमणि उन समस्त युक्तियों का खण्डन कर देते हैं। इसके उपरान्त रघुनाथ शिरोमणि सामान्यलक्षणसन्निकर्ष को स्वीकार करने के लिए कोई आवश्यकता नहीं महसूस करते, इसी कारण इस सन्निकर्ष को स्वीकार करने की कोई युक्ति नहीं पाते। परवर्ती अन्य नव्यनैयायिक भी सामान्यलक्षणसन्निकर्ष को स्वीकार करने के लिए कोई नवीन युक्ति नहीं प्रस्तावित करते। इस कारण मुझे लगता है कि रघुनाथ शिरोमणि के द्वारा इस सन्निकर्ष का परित्याग अनुचित नहीं है।

इस समग्र विवेचन को यदि एकदम प्रारम्भ से देखा जाये, तो यह दार्शनिक समस्या कुछ इस प्रकार से उभर कर आती है। चार्वाक तथा सन्देहवादियों के द्वारा आपत्ति उठायी गयी थी कि जब तक हम समस्त हेतुव्यक्तियों तथा समस्त साध्यव्यक्तियों को प्रत्यक्ष के माध्यम से नहीं देख लेते हैं, हमारे लिए साध्य तथा हेतु के मध्य व्याप्तिरूपी सम्बन्ध को जान पाना किसी भी रीति से सम्भव नहीं होगा। वाचस्पति मिश्र ने इस आपत्ति को स्वीकार कर लिया तथा समाधान प्रस्तावित किया कि वस्तुतः हमें समस्त धूमव्यक्तियों तथा समस्त अग्निव्यक्तियों का ज्ञान लौकिक सन्निकर्षों के द्वारा न होकर सामान्यलक्षणसन्निकर्ष के द्वारा हुआ करता है। वाचस्पति मिश्र ने चार्वाकों के इस प्रश्न पर कोई प्रश्न नहीं पूछा कि क्या वस्तुतः समस्त धूमव्यक्तियों तथा समस्त अग्निव्यक्तियों को जानना अग्नि तथा धूम के मध्य विद्यमान व्याप्ति को जानने के लिए आवश्यक है। उदयनाचार्य, जो कि वाचस्पति मिश्र के बाद आते हैं, इस व्याप्ति के ग्रहण के लिए सामान्यलक्षणसन्निकर्ष की कोई चर्चा करते नहीं दिखते। परन्तु गङ्गेशोपाध्याय ने इस प्रश्न का परिदृश्य ही मोड़ दिया। जब उन्होंने कहा कि व्यभिचारज्ञानाभाव

से सहकृत सहचारदर्शन व्याप्तिग्रह का कारण है हमें साध्य तथा हेतु के सहचारदर्शन से व्याप्ति का ग्रहण हो जाया करता है, शर्त बस यह है कि हमें व्यभिचार का ज्ञान नहीं होना चाहिए। व्यभिचार का ज्ञान दो प्रकार का हो सकता है सन्देहात्मक भी हो सकता है निश्चयात्मक भी हो सकता है। ध्येय है कि ज्ञान के यही दो प्रभेद हैं संशय तथा निश्चय। यदि सन्देहात्मक व्यभिचारज्ञान रहा तो भी व्याप्ति का निश्चय नहीं हो सकेगा तथा यदि निश्चयात्मक व्यभिचारज्ञान रहा तब तो व्याप्ति का निश्चय सम्भव नहीं ही है। यदि निश्चयात्मक तथा संदेहात्मक दोनों ही प्रकार का व्यभिचारज्ञान नहीं है तथा साध्य तथा हेतु के साथ–साथ रहने का ज्ञान है, तो केवल इतने से ही व्याप्ति का निश्चयात्मक ज्ञान हो जाया करता है। यह आवश्यक नहीं है कि हमको समस्त धूमव्यक्तियों तथा समस्त अग्निव्यक्तियों का ज्ञान हो। इसी कारण व्याप्तिग्रह में तर्क के द्वारा सहायता की अपेक्षा भी तब तक नहीं होती, जब तक कि व्यभिचारशङ्का (व्यभिचारसन्देह) न हो, तर्क का उपयोग उस व्यभिचारसन्देह का निवारण करने के लिए ही होता है। व्यभिचारसन्देह का निवारण यदि हो गया तो व्यभिचारज्ञान के अभाव से सहकृत सहचारदर्शन के द्वारा ही व्याप्ति का ग्रहण सम्भव हो जाता है। व्याप्तिग्रह की इस प्रक्रिया में समस्त साध्यव्यक्तियों तथा समस्त हेतुव्यक्तियों का प्रत्यक्षीकरण किसी भी प्रकार से अपेक्षणीय नहीं है। उदाहरणार्थ यदि समस्त धूमव्यक्तियों तथा समस्त अग्निव्यक्तियों का प्रत्यक्ष नहीं भी हुआ है, किसी एक या दो व्यक्तियों तथा उनके सहचार का प्रत्यक्षीकरण हुआ है, तो उससे ही हमें व्याप्ति का निश्चय हो जाता है, शर्त बस यह है कि हमें धूम 'अग्नि का व्यभिचारी है' ऐसा व्यभिचारनिश्चय न हुआ हो, साथ ही साथ 'धूम अग्नि का व्यभिचारी है या नहीं' ऐसा व्यभिचारसन्देह भी न हुआ हो। यदि व्यभिचारनिश्चय तथा व्यभिचारसन्देह नहीं हैं, तो इससे कोई अन्तर नहीं पड़ता है कि हमने समस्त धूमव्यक्तियों तथा समस्त अग्निव्यक्तियों का प्रत्यक्षीकरण किया है या नहीं। दो चार स्थलों में ही तथा किसी किसी स्थल में तो केवल एक स्थल में ही साध्यव्यक्ति तथा हेतुव्यक्ति के प्रत्यक्षीकरण के द्वारा ही व्याप्ति का ग्रहण होने में कोई समस्या नहीं आती। अब यदि किसी को यह सन्देह हो जाये कि क्या धूम अग्नि को छोड़कर रहता है कि नहीं? तो इस सन्देह का निवारण जब तक नहीं होगा, हमें व्याप्ति का ग्रहण नहीं हो सकेगा। इस सन्देह का निवारण करने के लिए हमें तर्क की अपेक्षा होती है। इस सारी प्रक्रिया में

कहीं पर भी सामान्यलक्षणसन्निकर्ष की आवश्यकता नहीं है। इसीलिए गङ्गेशोपाध्याय ने सामान्यलक्षणसन्निकर्ष की कोई आवश्यकता व्याप्ति के ग्रहणार्थ नहीं मानी। परन्तु व्याप्तिसन्देह के सम्पादनार्थ सामान्यलक्षणसन्निकर्ष की अपेक्षा उन्होंने महसूस की। गङ्गेशोपाध्याय को लगता है कि व्याप्ति का निश्चय तो अवश्य विना सामान्यलक्षणसन्निकर्ष के हो सकता है, परन्तु 'क्या धूम अग्नि को छोड़कर रहता है कि नहीं?' इस प्रकार का सन्देह विना सामान्यलक्षणसन्निकर्ष के किस प्रकार से हो सकेगा? इसका कारण यह है कि जो धूम अब तक लौकिकप्रत्यक्ष की प्रक्रिया से ज्ञात हैं, उन समस्त धूमव्यक्तियों के विषय में यह निर्धारण है कि वे अग्नि को छोड़कर नहीं रहते, इस कारण लौकिकप्रत्यक्ष की प्रक्रिया से ज्ञात धूमव्यक्तियों के विषय में ऐसा प्रश्न उठ नहीं सकता। निश्चय ही ऐसा प्रश्न उठता है, तो किस धूमव्यक्ति को विषय बनाकर यह प्रश्न उपस्थित होता है? अज्ञात के विषय में भी हमें कोई प्रश्न या सन्देह नहीं हो सकता। निश्चय ही कोई न कोई धूमव्यक्ति किसी न किसी अन्य प्रक्रिया से जाना जा रहा है जिसका अग्नि के साथ रहना ज्ञात या निश्चित नहीं है। इस प्रकार युक्ति के बल से हमें इस प्रकार के सन्देह तथा व्याप्तिसन्देह का सम्पादन करने के लिए सामान्यलक्षणसन्निकर्ष को स्वीकार करना पड़ेगा।

रघुनाथ शिरोमणि ने यह पाया कि गङ्गेशोपाध्याय भी समस्या को जड़ से नहीं पकड़ पा रहे हैं तथा भाषिक प्रयोग की विचित्रता के कारण भ्रान्त हैं। उनके द्वारा की जानेवाली सामान्यलक्षणसन्निकर्ष की स्वीकृति भी वस्तुतः एक भ्रान्ति के सिवा कुछ नहीं क्योंकि ऊपर प्रदर्शित 'धूम अग्नि का व्याप्य है या नहीं' इस प्रकार का व्याप्तिसन्देह वस्तुतः व्याप्ति का सन्देह है ही नहीं, यह तो व्याप्यतावच्छेदक का सन्देह है। निश्चय ही व्याप्यतावच्छेदक के सन्देह के लिए हमको सामान्यलक्षणसन्निकर्ष को स्वीकार करने की आवश्यकता नहीं ही है। 'क्या धूम अग्नि को छोड़कर रहता है कि नहीं?' इस प्रकार का सन्देह भी वस्तुतः धूमत्व में अग्नि के व्याप्यतावच्छेदकत्व का सन्देह ही है। इस कारण इन सन्देहों के सम्पादनार्थ भी हमको सामान्यलक्षणसन्निकर्ष को स्वीकार करने की आवश्यकता नहीं है। पक्षधरमिश्र इत्यादि अन्य नैयायिकों ने इस समस्या को अन्य विस्तृत परिप्रेक्ष्य में देखने का प्रयास किया। इसी कारण कुछ अन्य प्रयोजनों के लिए सामान्यलक्षणसन्निकर्ष को स्वीकृति देने का प्रस्ताव रखा। परन्तु रघुनाथ

शिरोमणि देखते हैं कि वस्तुतः उन प्रयोजनों के लिए भी इस सामान्यलक्षणसन्निकर्ष को स्वीकार करने की कोई आवश्यकता नहीं है। इस कारण वस्तुतः सामान्यलक्षणसन्निकर्ष एक दार्शनिक अन्धविश्वास से अधिक कुछ नहीं, जिसको नव्यनैयायिकों ने पूरी तरह से नकार दिया है। इस कारण अन्य दार्शनिकों के द्वारा नैयायिकों की इस प्रकार की आलोचना कि 'सामान्यलक्षणसन्निकर्ष अपने आप में एक भ्रान्ति है, उससे व्याप्तिग्रह की बात प्रस्तावित करते हुए नैयायिक एक भूल कर रहे हैं' अपने–आप में ही एक भ्रान्ति पर आधारित है। गङ्गेशोपाध्याय तथा रघुनाथ शिरोमणि ने क्रमशः न्यायवैशेषिक परम्परा को अपनी मौलिक दृष्टि से नैयायिकों को सामान्यलक्षणसन्निकर्ष के रूप में परम्परा से स्वीकृत एक दार्शनिक अन्धविश्वास से मुक्ति दिलायी है।

उपाचार्य
दर्शन एवं धर्मविभाग
काशी हिन्दु विश्वविद्यालय, वाराणसी

सन्दर्भ एवं पाद टिप्पणियाँ –

1. *योगजो द्विविधः प्रोक्तो युक्तयुञ्जानभेदतः। युक्तस्य सर्वदा भानं चिन्तासहकृतोऽपरः।। कारिकावली का.65–66*
2. *द्रष्टव्यकृभारतीय दर्शन में प्राप्यकारित्ववाद, संपादक–अम्बिकादत्त शर्मा, परिशिष्ट–2 ज्ञानलक्षणसन्निकर्ष की समस्याएँ (पृ.213–230) विश्वविद्यालय प्रकाशन, सागर 2006*
3. *मुझे वाचस्पति मिश्र की पङ्क्तियाँ तो तात्पर्यटीका में नहीं प्राप्त हो सकीं। परन्तु खण्डनखण्डखाद्य में उनके नाम के साथ यह उद्धरण अवश्य प्राप्त हुआ–इन्द्रियेण सामान्यलक्षणया प्रत्यासत्त्या व्याप्तिग्रहणकाले सर्वास्तज्जातीयव्यक्तयो गृह्यन्ते, तदनभ्युपगमे षण्डकमुद्वाह्य मुग्धायाः पुत्रप्रार्थनमिवेति वाचस्पतिरुपालम्भमवादीदिति। पृ.374, खण्डनखण्डखाद्य, विद्यासागरकृत खण्डनफक्किकाविभजनसहित, योगीन्द्रानन्द द्वारा खण्डनपञ्जिकानामक हिन्दीव्याख्या के साथ सम्पादित, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, 1992*
4. *आसत्तिराश्रयाणां तु सामान्यज्ञानमिष्यते। .. कारिकावली का.64*
   विषयी यस्य तस्यैव व्यापारो ज्ञानलक्षणः। कारिकावली का.65
5. *सामान्यलक्षणया प्रत्यासत्त्या व्याप्तिं गृह्णतः सार्वज्ञ्यप्रसङ्गात्। प्रमेयत्वेन व्याप्तिं परिच्छिन्दन् सर्वज्ञत्वापत्तिः। खण्डनखण्डखाद्य, पृ.374–375*

6. प्रमेयतया व्याप्तिग्रहणकाले सर्वतज्जातीयव्यक्तिग्रहणे प्रमेययत्वादिसर्वं तदा ज्ञायत एव, न तु रूपान्तरेणेति चेन्न, यदि रूपान्तरेण तत् प्रमेयं तदा रूपान्तरवतोऽपि प्रमेयत्वाधारतया कथमग्रहणम्? अथ न प्रमेयं, नास्त्येव रूपान्तरेण तत्। खण्डनखण्डनखाद्यम् पृ.375
7. व्याप्तिग्रहश्च सामान्यलक्षणाप्रत्यासत्त्या सकलधूमादिविषयकः, कथमन्यथा पर्वतीय धूमे व्याप्त्यग्रहे तस्मादनुमितिः। तत्त्वचिन्तामणि, सामान्यलक्षणाप्रकरण, पृ.772
8. सा चेन्द्रियसम्बद्धविशेषणता तदतिरिक्तैव वा। वहीं, पृ.772
9. तदपरे न मन्यन्ते, तथाहि धूमत्वावच्छिन्ना व्याप्तिः सकलधूमविषये धूमत्वेन प्रत्यक्षेण ज्ञायते, ततः स्मृता सा तृतीयलिङ्गपरामर्शे पक्षनिष्ठधूमवृत्तितया ज्ञायते। ततोऽनुमितिः। वहीं, पृ.772 तथा पृ.790–791
10. तदनभ्युपगमेऽपि सन्निकृष्टधूमविषये धूमत्वेन धूमो वह्निव्याप्य इत्यनुभवस्तथैव व्याप्तिस्मरणं ततो धूमवानिति व्याप्तिसमृतिप्रकारेण धूमत्वेन पक्षवृत्तिधूमज्ञानादनुमितिः व्याप्त्यनुभव–तत्स्मरण–पक्षधर्मताज्ञानानामेकप्रकारकत्वेनानुमितिहेतुत्वात्। वहीं, पृ.791
11. धूमो वह्निव्याप्य इत्यनुभवो न तु सर्वो धूमो वह्निव्याप्य इति येन सर्वभानार्थं तत्स्वीकारः। वहीं, पृ.792
12. गवादिपदेष्वपि शक्त्यनुभवशक्तिस्मरणवाक्यार्थानामेकप्रकारकत्वेन हेतुहेतुमद्भाव इत्यपूर्वे वक्ष्यते, तत्र योग्यताबलादपूर्वव्यक्तलाभोऽनुमाने तु पक्षधर्मताबलात्। वहीं, पृ.792
13. विशिष्टवैशिष्ट्यज्ञाने विशेषणतावच्छेदकप्रकारकज्ञानस्यावश्यकत्वेन हेतुत्वात्, तच्च वृत्तमेव न तु विशेषणज्ञानमपि तथा गौरवात्।.... दृष्टान्ताभावात् दण्डी पुरुष इत्यत्र विशेषणधीजन्यत्वानभ्युपगमात् विशिष्टवैशिष्ट्यज्ञानत्वात्। वहीं, पृ.798
14. अपिच प्रमेयत्वेन व्याप्तिं परिच्छिन्दन् सर्वज्ञः स्यात्।.. वहीं, पृ.798
15. यद्यपि इस युक्ति को मैं न्यायलीलावती में ढूँढ नहीं सका, परन्तु इसको गङ्गेशोपाध्याय ने उपस्थापित किया है, तथा उसकी व्याख्या की अवतरणिका देने के क्रम में मथुरानाथ तर्कवागीश द्वारा 'लीलावतीकारमतमाशङ्कते' इस प्रकार से प्रतीक दिया है। इससे न्यायलीलावतीकार का यह मत है, इसकी पुष्टि होती है। द्र. तत्त्वचिन्तामणि अनुमानखण्ड, रहस्य व्याख्यासहित पृ.284, तत्त्वचिन्तामणि अनुमानखण्ड, मथुरानाथ तर्कवागीशकृत रहस्य व्याख्या के साथ, संपादक, कामाख्यानाथ तर्कवागीश, चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, दिल्ली, 1990
16. यत्तु पाकादौ चिकीर्षा सुखादौ इच्छा न स्यात् सिद्धे इच्छाविरहात्, असिद्धस्याज्ञानात्। तस्मात् सुखत्वादिना ज्ञातेषु सर्वेषु सिद्धं विहायासिद्धे इच्छा भवतीत्यभ्युपेयम्। तत्त्वचिन्तामणि सामान्यलक्षणाप्रकरण, पृ.871
17. असिद्धस्याज्ञानेऽपि सिद्धगोचरज्ञानादेव इच्छाप्रवृत्तिस्वाभाव्यादसिद्धे तयोरुत्पत्तेः। वहीं, पृ.872
18. न चातिप्रसङ्गः, समानप्रकारकत्वेन ज्ञानेच्छाकृतीनां कार्यकारणभावात्। वहीं पृ.872

19. उच्यतेकृयदि सामान्यलक्षणा नास्ति तदानुकूलतर्कादिकं विना धूमादौ व्यभिचारसंशयो न स्यात् प्रसिद्धधूमे वह्निसम्बन्धावगमात् कालान्तरीय–देशान्तरीयधूमस्य मानाभावेनाज्ञानात्। सामान्येन तु सकलधूमोपस्थितौ धूमान्तरे विशेषादर्शनेन संशयो युज्यते। वहीं, पृ.808–809
20. अत्र वदन्तिकृप्रसिद्धधूमे धूमत्वेन व्याप्तिज्ञानमेतद्धूमत्वेन वा? आद्ये संशयोऽसिद्धः। द्वितीये धूमत्वावच्छेदेन व्याप्तिग्रहस्यैव तद्विरोधितया स नानुपपन्नः। तत्त्वचिन्तामणिदीधि ाति, सामान्यलक्षणाप्रकरण, 810
21. रघुनाथ शिरोमणि काने थे ऐसी प्रसिद्धि है।
22. यत्तु सामान्याभावभानार्थं सा स्वीकार्या, तां विना सकलप्रतियोगिज्ञानासम्भवादिति। वहीं, पृ.813
23. तन्न, न हि अभावस्य ज्ञानमात्रे लौकिकसन्निकर्षे वा प्रतियोगिज्ञानं कारणम्, तव सामान्यलक्षणया इदन्त्वादिना च भाने व्यभिचारान्मानाभावाच्च। वहीं पृ.813
24. प्रागभावप्रत्ययोऽपि च प्रतियोगिवृत्तिघटत्वादिप्रकारकज्ञानसाध्यो न प्रतियोगिज्ञानमपेक्षते। वहीं, पृ.815–816
25. अथैवं जातो घट इत्यादिवदुत्पन्नो घटध्वंस इत्यादिविलक्षणप्रत्ययबलेन नाशोतिरिच्यतां न तु प्रागभावः। वहीं पृ.831
26. गोत्वे च गोनिष्ठात्यन्ताभावाप्रतियोगित्वेन समवेतत्वेन च विशेषितमविशेषितं वा गवेतरासमवेतत्वं व्याप्यतावच्छेदकं न तु सकलगोवृत्तित्वविशेषितम्, सामान्यलक्षणयापि गृहीतुमशक्यत्वात्। वहीं, पृ.862 (इस आलेख में तत्त्वचिन्तामणि एवं दीधिति के समस्त उद्धरण गादाधरी, प्रथम खण्ड, चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी, 1970 से दिये गये हैं)

भासर्वज्ञ सम्मत विपर्यय विमर्श

अरुण मिश्र

प्रमाण का लक्षण करते हुए भासर्वज्ञ कहते हैं कि "सम्यगनुभवसाधनं प्रमाणम्। सम्यग्ग्रहणं संशयविपर्ययापोहार्थम्।"[1] सम्यक् अनुभव का साधन ही प्रमाण है। 'सम्यक्' पद का प्रयोग कर भासर्वज्ञ अनुभव से संशय एवं विपर्यय का अपोह करते हैं। अतः 'सम्यक्' पद को समझने के लिये 'संशय' एवं 'विपर्यय' पदों की व्याख्या आवश्यक है। इस आलेख में भासर्वज्ञ को केन्द्र में रखकर श्लोकवार्तिकव्याख्यातात्पर्यटीका एवं स्याद्वादरत्नाकर के परिप्रेक्ष्य में विपर्यय की व्याख्या करना लक्ष्य है। इन दोनों ग्रंथों के अतिरिक्त भासर्वज्ञ के मत को स्पष्ट करने के लिये यदा कदा अन्य ग्रंथों का भी संदर्भ ग्रहण किया गया है।

विपर्यय के लिये 'ख्याति' पद का प्रयोग अत्यन्त ही प्रसिद्ध है। 'ख्याति' शब्द 'ख्या' धातु में 'क्तिन्' प्रत्यय के योग से व्युत्पन्न होता है। अन्य में अन्य प्रकारक ज्ञान को या प्रकथन करने को ख्याति कहते हैं। जैसे शुक्तिका में उसके चाकचिक्यादि के कारण रजत का अवभास, तथा स्थाणु में पुरूष का अवभास होना ख्याति कहलाता है। ये प्रकथन मात्र हैं और इस प्रकारक अवभास में अर्थक्रियाकारित्व का अभाव होता है। फलस्वरूप ख्याति को अप्रमा की कोटि में रखा गया है। सामान्यरूपेण शास्त्रों में ख्यातिपंचक ही प्रचलित हैं, इसीलिये अधिकांश विद्वान् इन्हीं पाँच ख्यातियों का वर्णन करते हैं। परन्तु इस सन्दर्भ में डॉ. मुरलीधर पाण्डेय कृत चतुर्दशख्याति–विवेक[2] नामक लघुकाय पुस्तिका तथा डॉ. बच्चूलाल अवस्थी की वादत्रयी[3] नामक कृति उल्लेखनीय हैं। ये दोनों क्रमशः चौदह एवं इक्किस प्रकारक ख्यातियों का उल्लेख करते हैं। डॉ. पाण्डेय चौदह प्रकारक ख्यातियों का अति संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत करते हैं और डा. अवस्थी इक्किस प्रकारक ख्यातियों का उल्लेख कर उसका संदर्भ मात्र देते हैं। इन दोनों लघुकाय पुस्तकों का वैशिष्ट्य यह है कि ये अध्येताओं को विभिन्न ख्यातियों की उपलब्धता एवं संख्याओं के प्रसंग में दिशा–निर्देश करते हैं।

भासर्वज्ञ मिथ्याज्ञान को विपर्यय कहते हैं। उनके अनुसार जहाँ (शुक्तिका में) जो वस्तु (रजत) नहीं है वहाँ उस विपरीत अर्थ (रजत) के निश्चय की कल्पना विपर्यय कहलाता है। उदाहरणार्थ ज्ञाता के चक्षु दोष के कारण दो चन्द्रमाओं का दर्शन, तथा सोये हुए पुरूष को गजादि का दर्शन विपर्यय के उदाहरण हैं। भासर्वज्ञ के अनुसार सभी विपर्ययों को संग्रह करने के लिये तथा अन्य के मतों का निषेध करने के लिये ही दूसरा उदाहरण प्रस्तुत किया गया है। "मिथ्याध्यवसायो विपर्ययः। विपरीतार्थनिश्चयोऽत–स्मिंस्तदभिमानो विपर्यय इत्यर्थः। तद्यथा–द्वौ चन्द्रौ इति। सुप्तस्य गजादिदर्शनं च – इत्युदाहरणान्तरं किमर्थं ? सकल–विपर्ययसंग्रहार्थं मतान्तरनिषेधार्थं च।"[4] इस दूसरे उदाहरण से भासर्वज्ञ स्वयं को न्याय के समानतंत्र वैशेषिक के स्वप्नविषयक मत से भिन्न कर अपनी मौलिकता का परिचय देते हैं। वैशेषिकों ने स्वप्नज्ञान को अविद्या का एक स्वतंत्र कोटि माना है। वैशेषिकों के इस मत का निराकरण के लिये ही भासर्वज्ञ दूसरा उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। भासर्वज्ञ के अनुसार विपर्यय के लक्षण से युक्त स्वप्नज्ञान विपर्यय होते हैं, या पुनः विपर्यय के लक्षण से रहित स्वप्न ज्ञान का संशय में अन्तर्भाव हो जाता है, इसीलिये इसे अविद्या की एक स्वतंत्र कोटि कहना अनुचित है।

वैशेषिक स्वप्नज्ञान को अविद्या की एक स्वतंत्र कोटि मानते हैं। उनके अनुसार अविद्या चार प्रकारक होते हैं–संशय, विपर्यय, अनध्यवसाय तथा स्वप्नज्ञान। अचेतन और विरक्त मन नामक इन्द्रिय द्वारा सोये हुए व्यक्ति के मानस अनुभव को स्वप्न कहते हैं। "अविद्या चतुर्विद्या – संशयविपर्ययानध्यवसायस्वप्नलक्षणा। उपरतेन्द्रियस्यप्रलीनमन–स्कस्येन्द्रियद्वारेणैव यदनुभवनं मानसं तत् स्वप्नज्ञानम्"[5]। चूँकि स्वप्न में मन नामक इन्द्रिय अचेतन और विरक्त होता है, इसीलिये वैशेषिक स्वप्न ज्ञान को अविद्या की एक स्वतंत्र कोटि मानते हैं। उनके अनुसार स्वप्न प्रमाण–फल की स्मृति से होता है, इसीलिये वे स्वप्न ज्ञान को विपर्यय एवं संशय से भिन्न कहना चाहते हैं।

भासर्वज्ञ वैशेषिक के इस मत का निषेध करते हुए कहते हैं कि विपर्यय के लक्षण के आधार पर संगृहीत स्वप्नज्ञान को विपर्यय से भिन्न कहना उचित नहीं है। स्वप्न–ज्ञान को मिथ्या मानने से उसका अन्तर्भाव विपर्यय में हो जाता है। पुनः जो भी स्वप्न ज्ञान विपर्यय के लक्षण से रहित है उसे भी अविद्या से भिन्न नहीं कहा जा सकता क्योंकि वे अनवधारणात्मक होते हैं और अनवधारणात्मक ज्ञान संशयात्मक होते हैं, इसीलिये स्वप्न–ज्ञान

संशय में ही अन्तर्भूत हो जाते हैं। इस तरह स्पष्ट है कि भासर्वज्ञ स्वप्न ज्ञान को अविद्या की एक स्वतंत्र कोटि नहीं मानते हैं। "केचिदत्र स्वप्नज्ञानं प्रमाणफलस्मृत्यादिभ्योऽर्थान्तरमिच्छन्तीत्यतस्तन्निषेधः क्रियते। न हि विपर्ययलक्षणेन संगृहीतस्य ततोऽर्थान्तरत्वं युक्तम्। यदपि स्वप्नज्ञानं विपर्ययादि विलक्षणं तदपि नाविद्यान्तरम्। किं कारणं ? यत्तावदनवधारणात्मकम्, तत्संशयान्तर्भूतम्।"[6] यहाँ पर भासर्वज्ञ स्वयं को न्याय के समानतंत्री वैशेषिक मत से भिन्न कर अपनी मौलिकता उद्घाटित करते हैं।

यहाँ यह शंका की जा सकती है कि संशय की उत्पत्ति के लिये समानधर्मादि नामक हेतुओं* का ज्ञान आवश्यक है, और यहाँ उन हेतुओं के ज्ञान के कारण का अभाव होने से उन हेतुओं का ज्ञान नहीं होता है, फलतः सोये हुए पुरूष के गजार्दि के दर्शन को संशय में अन्तर्भूत करना उचित नहीं है। इस शंका के समाधान में भासर्वज्ञ उत्तर देते हैं कि विषय (गज) शब्द से विषयी को उस विषय का ज्ञान हो जाता है, फलतः ऐसी शंका निर्मूल है। और समानधर्मादि का ज्ञान सम्यक् हो वा भ्रान्त दोनों प्रकार से भी सहकारिकारण के साथ वह संशय के कारण के रूप में इष्ट है। दूसरे शब्दों में समानधर्मादि का ज्ञान सम्यक् हो वा भ्रान्त दोनों ही सहकारिकारण के साथ संशय की उत्पत्ति के लिये सक्षम हैं, क्योंकि संशय रूपी कार्य के दर्शन से ही उसके कारण का सामर्थ्य अवधारित हो जाता है। जो अनुभूतार्थ मात्र का अवमास कराने वाला स्वप्नज्ञान होता है, वह स्मरण होता है, परन्तु जो सम्यक् अनुभवात्मक स्वप्नज्ञान होता है, जैसे कि स्वप्न में सुख–दुःख का सम्वेदन, वह प्रत्यक्षादि का फल होता है। और इस प्रकार जो स्वप्नज्ञान जिस लक्षण में संगृहीत होता है उसका वहीं अन्तर्भाव देखना चाहिये। जाग्रत ज्ञान के तुल्य स्वप्न ज्ञान में हमें अवभासित अर्थों से भिन्न अर्थ नहीं देखना चाहिये। भासर्वज्ञ के अनुसार–"समानधर्मादिविषय (ज्ञान) कारणाभावान्न सुप्तस्य संशय इति चेत्, न, विषयशब्देन विषयिणस्तज्ज्ञानस्याभिधानात्। तच्च समानधर्मादिज्ञानं सम्यग्वा भवतु भ्रान्तं वा इत्युभयथापि सहकारिसहितं संशयकारणत्वेनेष्टं,

---

**अनवधारणात्मक ज्ञान को संशय कहा गया है। एक धर्मी में नाना प्रकारक विरूद्ध ज्ञान होने से ज्ञान का अवधारण नहीं हो पाता है, फलतः संशय होता है। सूत्रकार के अनुसार संशय की उत्पत्ति के पाँच हेतु हैं– समान धर्म होने से, अनेकधर्म होने से, विप्रतिपत्ति होने से, अनेक धर्म होने से, विप्रतिपत्ति होने से, उपलब्धि और अनुपलब्धि की अव्यवस्था से संशय होता है।*

कार्यदर्शनाद्धि कारणस्य सामर्थ्यमवधार्यत इति। यच्चानुभूतार्थमात्राव। भासिस्वप्नज्ञानं, तत्स्मरणम्। यत्तु सम्यगनुभवात्मकं, तत्प्रत्यक्षादिफलं, यथा सुखादिसंवेदनमिति। एवं च यत्स्वप्नज्ञानं यल्लक्षणेन संगृहीतं तत्तत्रैवान्तर्भूतं द्रष्टव्यं जाग्रज्ज्ञानवन्न तेभ्योऽर्थान्तरमिति।[7]

भासर्वज्ञ विपर्यय को निमित्त के आधार पर तथा विषय के आधार पर विभाजित करते हैं। निमित्त को भी दो वर्गों में विभाजित करते हैं—वे जो पुरूष से बाह्य होते हैं, और वे जो पुरूष के स्वयं के दोष होते हैं। भासर्वज्ञ एक को बाह्य—निमित्त और दूसरे को आध्यात्मिक—निमित्त कहते हैं। जैसे—सादृश्य के कारण रज्जु में सर्प का ज्ञान, स्थाणु में पुरूष का ज्ञान, अन्य द्रव्य के संसर्ग होने से शुक्ल वस्त्र में भी रक्तादि का ज्ञान, उपाधि के सन्निकृष्ट होने से स्फटिक में रक्तादि का ज्ञान, क्रमिक रूप से होने वाली घटनाओं में भी आशुभाव होने से युगपद—ज्ञान, नाव यान से चलने से स्थिर वस्तुओं में गति का ज्ञान, तथा मंत्र के सामर्थ्य से इन्द्रजाल का ज्ञान। ये विपर्यय के ऐसे उदाहरण हैं जो बाह्य कारणों से होते हैं। इसके अतिरिक्त विपर्यय के कुछ ऐसे उदाहरण हैं जिसका कारण व्यक्ति का स्वयं का दोष होता है। जैसे चक्षुरादि को पित्त से अभिभावित होने पर शंखादि में पीत रंग का ज्ञान, तिमिर दोष के कारण केश के अभाव में भी केशगुच्छ का ज्ञान, एक चन्द्र में अनेक चन्द्र का अवभास, अतिशय संस्कार होने से युवती नहीं होने पर भी युवती का अवभास, शास्त्र के असत् अभ्यास से अश्रेयस में श्रेयस और अनुपाय में उपाय का बोध, अदृष्ट के सामर्थ्य से दिशा का मोह, तथा अतिशय संस्कार के साथ निद्रा होने से स्वप्नज्ञान। "निमित्तभेदेनाप्यनेकधा विपर्ययो भिद्यते, तद्यथा—सादृश्याद्रज्जौ सर्प इति, स्थाणौ पुरूष इत्येवमादि ज्ञानम्, द्रव्यान्तरसंसर्गाच्छुक्लेऽपि पटादौ रक्तादिज्ञानं स्फटिकादौ चोपाधिसंनिधानमात्रादिति, क्रमभाविष्वप्याशुभावाद् युगपज्ज्ञानं, नावादियानात् स्थिरेष्वपि चलद्बुद्धिः, मंत्रौषधादिसामर्थ्यादिन्द्रजालादिज्ञानमित्येवमादि बाह्यनिमित्तप्रधानं विपर्ययज्ञानं द्रष्टव्यमिति। अथाध्यात्मिकनिमित्तप्रधानंचक्षुरादेः पित्ताद्यभिभवाच्छंखादिषु पीतादिज्ञानं, तिमिरदोषात्केशाभावेपि केशोण्डुकज्ञानं, एकस्मिंश्चन्द्रादावनेकत्वावभासश्च, संस्कारातिशयादसत्यपि युवत्याद्यर्थे युवत्याद्यवभासः, असच्छास्त्राभ्यासादश्रेयस्य— नुपायादिषु च विपरीतबुद्धिः, अदृष्टसामर्थ्याद्दिगादिमोहः, तथा निद्रासहितेभ्यः संस्कारातिशयादिभ्यः स्वप्नज्ञानं वेदितव्यमिति।"[8]

इसके अतिरिक्त विषय के आधार पर विपर्यय पर विचार करते हुए भासर्वज्ञ आठ प्रकारक ख्यातियों की उपस्थापना, उनका वर्णन एवं समीक्षा करते हैं, तथा विपरीत (अन्यथा) ख्याति की स्थापना करते हैं। भ्रान्ति में भ्रान्त पुरूष के ज्ञान को (1) अख्याति कहें वा (2) असत्ख्याति कहें वा (3) प्रसिद्धार्थख्याति कहें वा (4) अलौकिकार्थख्याति कहें वा (5) स्मृतिविप्रमोष कहें वा (6) आत्मख्याति कहें वा (7) अनिर्वचनीयख्याति कहें वा पुनः (8) विपरीत (अन्यथा) ख्याति कहें। भासर्वज्ञ क्रम से उक्त सभी ख्यातियों को उपस्थापित कर पुनः उनका प्रत्याख्यान करते हुए विपरीत अर्थात् अन्यथाख्याति की परिष्कृत स्थापना करते हैं। "विषयद्वारेण तर्हि विपर्ययो विचार्यताम् (1) किमख्यातिरेव (2) किं वा असत्ख्यातिः (3) अथ प्रसिद्धार्थख्यातिः (4) उतालौकिकार्थख्यातिः (5) किं वा स्मृतिविप्रमोषः (6) उतस्विदात्मख्यातिः (7) अथ सदसत्त्वाद्यनिर्वचनीयार्थख्यातिः (8) आहोस्विद्विपरीतख्यातिरिति।"[9] यहाँ यह ध्यान देने योग्य है कि जयन्त चार प्रकारक एवं वाचस्पति मात्र पाँच प्रकारक ख्यातियों की ही चर्चा करते हैं। जयन्त का कथन है कि भ्रान्ति स्थल में मात्र चार प्रकारक विमति ही उल्लेखनीय है। जैसे – (1) विपरीतख्याति (2) असत्ख्याति (3) आत्मख्याति और (4) अख्याति। "विपरीतख्यातिः, असत्ख्यातिः आत्मख्यातिरख्यातिरिति।[10] वाचस्पति अपने तात्पर्यटीका में पाँच प्रकारक ख्यातियों की ही चर्चा करते हैं– (1) योगाचार बौद्धों की आत्मख्याति, (2) माध्यमिक बौद्धों की असत्ख्याति, (3) अद्वैतवेदान्तियों की अनिर्वचनीयख्याति, (4) प्रभाकर मीमांसकों की अख्याति, तथा (5) वृद्ध नैयायिकों की अन्यथाख्याति। यही पंचख्याति प्रसिद्ध हैं। "केचित् स्वाकारबाह्यत्वविषयं ज्ञानं विपर्यय इत्याचक्षते। अन्येऽसद्विषयं ज्ञानम्। अन्ये त्वनिर्वचनीयमेव ज्ञानम्। अपरे त्वग्रहणमेव। अन्यथा–ख्यातिं तु वृद्धाः।"[11] चूँकि दर्शन के अन्यान्य सम्प्रदायों ने प्रसिद्धार्थख्याति, अलौकिकार्थख्याति तथा स्मृतिविप्रमोष को स्थापित करने के लिये विपरीत (अन्यथा) ख्याति का प्रत्याख्यान करते हैं, इसीलिये भासर्वज्ञ इन तीनों को भी उपस्थापित कर पुनः उनका प्रत्याख्यान करते हैं तथा न्याय मत की स्थापना करते हैं। इससे यह स्पष्ट होता है कि कैसे भासर्वज्ञ अपनी मौलिकता की रक्षा करते हुए न्याय परम्परा को समृद्ध एवं विकसित करते हैं।

अख्यातिवाद

प्राभाकरों के ख्याति विषयक मत को अख्यातिवाद के नाम से जाना जाता है। स्वतः प्रामाण्यवादी होने के कारण प्राभाकर ज्ञान को सत्य एवं प्रमा कहते हैं, अतः उनके अनुसार भ्रमस्थल में भेद के ज्ञान का अभाव होता है,

न कि भ्रम। भ्रमस्थल में शुक्तिका को देखकर 'रजतमिदम्' कहते हैं तो वहाँ रजत का भ्रम न होकर आपणस्थ रजत का स्मरण और 'इदमंश' का प्रत्यक्ष होता है। यहाँ दोनों ही ज्ञान सत्य हैं और दोनों में भेद का ग्रहण नहीं होने से या दोनों ज्ञानों को एक साथ होने से 'रजतमिदम्' का भ्रम होता है। इसे अख्याति कहा गया है। 'ख्याति' पद का अर्थ ज्ञान होने से अख्याति का अर्थ ज्ञान का अभाव होता है। 'रजतमिदम्' में 'इदमंश' प्रत्यक्षात्मक और 'रजतमंश' स्मरणात्मक ज्ञान है और दोनों ही ज्ञान यथार्थ हैं। प्रभाकर के इसी मत को शालिकनाथ अपने प्रकरणपञ्चिका में समीचीन रूप से प्रकाशित करते हैं।

"यथार्थं सर्वमेवेह विज्ञानमिति सिद्धये।
प्रभाकर गुरोर्भावः समीचीनः प्रकाश्यते।"[12]

प्रभाकर भासमान और वेद्य में भेद नहीं करते हैं। जिस ज्ञान में जो भासित होता है वही वेद्य है, अन्य नहीं। यही वेद्य का लक्षण माना गया है। "अत्र ब्रूमो य एवार्थः यस्यां संविदि भासते। वेद्यः स एव नान्यद्धि विद्यात् वेद्यस्य लक्षणम्।।"[13]

जो अर्थ बुद्धि में प्रतिभासित होता है उस अर्थ को परित्याग कर यह कहा जाय कि बुद्धि किसी अन्य को प्रतिभासित करती है तो बुद्धि और अर्थ में व्यभिचार होने से बुद्धि विश्वासयोग्य नहीं रह जाती। अतः ज्ञान में जो अर्थ प्रतिभासित हो रहा है वही वेद्य है।" यदि चार्थं परित्यज्य क्वचिद्बुद्धिः प्रवर्तते। व्यभिचारवती स्वार्थे कथं विश्वासकारणम्।।[14]

प्रभाकर के अनुसार शुक्तिका में रजतप्रतीति रूप भ्रम का कोई अवसर नहीं होता है। 'रजतमिदम्' का 'इदमंश' इन्द्रिय और अर्थ (शुक्तिका) के सन्निकर्ष से उत्पन्न प्रत्यक्षात्मक ज्ञान है, और 'रजतमंश' स्मरणात्मक ज्ञान है। जब ज्ञाता शुक्तिका को 'इदम्' के रूप में ग्रहण करता है तो वह शुक्तिका के उन विशेष हेतुओं का ग्रहण नहीं कर पाता है जो उसे रजत से भिन्न करते हैं। शुक्तिका और रजत की सामान्यरूपता से अभिभूत होकर ज्ञाता वहाँ रजत का स्मरण कर बैठता है। यह प्रक्रिया इतनी शीघ्रता से होती है कि ज्ञाता दोनों ज्ञानों और उनके विषयों में भेद नहीं कर पाता । परन्तु इन दोनों ज्ञानों को उनके अपने विषयों के साथ विसंवाद नहीं होता है।

"उच्यते शुक्तिशकलं गृहीतं भेदवर्जितम्।
शुक्तिकाया विशेषा ये रजताद् भेदहेतवः।।
न ते ज्ञाता अभिभवात् ज्ञाता सामान्यरूपता।
अनन्तरं च रजते स्मृतिर्जाता तथापि च।।"[15]

'रजतमिदम्' नामक ज्ञान में रजत ही अवभासित होता है, शुक्तिका नहीं। इसीलिये प्रभाकर के अनुसार वहाँ रजत ही वेद्य है, शुक्तिका नहीं।

"इदं रजतमित्यत्र रजतं चावभासते।
तदेव तत्र वेद्यं स्यान्नतु शुक्तिरवेदनात्।।"[16]

जो भासमान है वही वेद्य है, इसीलिये एक वस्तु का दूसरी वस्तु के रूप में भासित होने का प्रश्न ही नहीं उठता है। 'रजतमिदम्' में शुक्तिका का अनुभवात्मक प्रत्यक्ष ज्ञान, और रजत का स्मरणात्मक ज्ञान में भेद का ग्रहण नहीं हो पाने से ज्ञाता शुक्तिका को रजत समझ लेता है। अतः यहाँ भेदाग्रह या विवेकाग्रह होने से अख्याति कही जाती है।

इस प्रकार भासर्वज्ञ अख्यातिवाद को प्रस्तुत कर उसका निराकरण करते हैं। इस क्रम में वे प्रथमतः अख्यातिवाद के विरोध में दिये गये उपालम्भ प्रस्तुत करते हैं। यहाँ उपालम्भ है कि अख्याति के लिये प्रमाण का अभाव होने से अख्याति अयुक्त है। अख्यातिवादी इस उपालम्भ का उत्तर देते हैं कि अख्याति की उपपत्ति प्रमाण से होती है अतः अख्याति अतार्किक नहीं है। "तत्र प्रमाणाभावात्तावदख्यातिरयुक्ता, न, प्रमाणोपपत्तेः।"[17] भ्रम स्थल में ज्ञान निरालम्बन होता है और निरालम्बन होने से ही वह विपर्यय है। निरालम्बन होना ही विपर्यय का प्रमाण है अतः अख्याति युक्त है। मृगमरीचिका में जल के अवभास के ज्ञान में जल–सत्ता को अवलम्बन देने वाला कोई भूत नहीं होता है फलतः जिस भाँति स्वप्न का आलम्बन नहीं होने से स्वप्न विपर्यय होता है उसी तरह मृगमरीचिका में जलादि का ज्ञान भी निरालम्बन है और इस कारण वह विपर्यय है। यही अख्यातिवादियों का निरालम्बनवाद कहलाता है।"निरालम्बनं जलादिविपर्ययज्ञानं स्वप्नविपर्ययवदिति"[18]

अख्यातिवादी अख्याति के पक्ष में प्रमाण देते हुए कहते हैं कि मृगमरीचिका में जलावभासी ज्ञान में जल सत्ता को अवलम्बन देने वाला भूत नहीं होता है क्योंकि ऐसा मान लेने से अभ्रान्तत्व की समस्या उठ जाती है। जल सत्ता के आलम्बनीभूत के अभाव को तभी स्वीकार किया जाता है यदि जलाभाव प्रतिभासित हो। मृगमरीचिका में जलाभाव प्रतिभासित नहीं होता है, अतएव मृगमरीचिका में भी जल के प्रतिभास का अवलम्बन होना चाहिये। परन्तु यहाँ जल के प्रतिभास का अवलम्बन नहीं होने से ही विपर्यय होता है। क्योंकि मृगमरीचिका में जल के प्रतिभास में जल के आलम्बनीभूत को मानने से मृग–मरीचिका में जल–ग्रहण के अभ्रान्तत्व की समस्या उठ जाती है। जलाकार के आधार पर मृगमरीचिका में जल का ग्रहण युक्त नहीं है

क्योंकि मरीचिका में जल का ग्रहण जलाकार से भिन्न होता है। किसी वस्तु से भिन्न वस्तु के ज्ञान के आधार पर उस वस्तु को स्थापित नहीं किया जा सकता है। न हि घटाकार के आधार पर उससे भिन्न पटादि का ग्रहण होता है क्योंकि घट पट से भिन्न होता है। इसीलिए मरीचिका में जलादि का विपर्यय ज्ञान स्वप्न नामक विपर्यय के तुल्य निरालम्बन होता है। भासर्वज्ञ के शब्दों में–"तथाहि–जलावभासिनि ज्ञाने तावत् न जलसत्तावलम्बनी भूताऽस्त्यभ्रान्तत्वप्रसंगात् जलाभावस्तु न प्रतिभात्येवातो नालम्बनं, अतएव मरीचयोपि नालम्बनं प्रतिभासाभ्युपगमेपि तद्ग्रहणस्याभ्रान्तत्वप्रसंग इति। तोयाकारेण मरीचिग्रहणमित्यप्ययुक्तं, तदन्यत्वात्, न हि घटाकारेण तदन्यस्य पटादेर्ग्रहणं दृष्टम्, तस्मान्निरालम्बनं जलादिविपर्ययज्ञानं स्वप्नविपर्ययवदिति।"[19]

भासर्वज्ञ अख्यातिवाद का खंडन करते हुए कहते हैं कि निरालम्बन के आधार पर अख्यातिवाद की पुष्टि नहीं होती है। भ्रमस्थल में जलावभासी ज्ञान में या रजतज्ञान में जल या रजत अनिर्दिष्ट होता है। अतः विशेष के अनिर्देश की समस्या के आधार पर जलादि के ज्ञान को निरालम्बन कहना अनुचित है। जहाँ जल वा रजत अपने को स्वयं के रूप वा दूसरे के रूप में प्रतिभासित नहीं करता है तो वहाँ किस विशेष से जलज्ञान वा रजत ज्ञान निरूपित होना चाहिये ? भासर्वज्ञ जल–ज्ञान के लिये विशेष के निर्देश को आवश्यक मानते हैं। और यहाँ कोई विशेष नहीं जिससे जलज्ञान वा रजतज्ञान निरूपित होना चाहिये। भासर्वज्ञ के अनुसार अविशेष की समस्या भ्रान्ति और सुषुप्तावस्था दोनों में होनी चाहिये। यहाँ यह नहीं कहना चाहिये की प्रतिभासमान अर्थ के नहीं होने से कोई अन्य विशेष होता है। अतः भासर्वज्ञ के अनुसार निरालम्बन के आधार पर अख्याति की पुष्टि नहीं होती है। "तदेतदयुक्तं, तत्केन विशेषेण जलज्ञानं रजतज्ञानमिति च व्यपदिश्येत ? भ्रान्तिसुषुप्तावस्थयोरविशेष प्रसंगश्च स्यात्। नह्यत्र प्रतिभासमानार्थव्यतिरेकेणान्योऽस्ति विशेषः, प्रतिभासमानश्चार्थस्तज्ज्ञान–स्यालम्बनमित्युच्यते। कथमख्यातिरेव विपर्यय इति।"[20]

इसके अतिरिक्त यहाँ यह भी ध्यान देने योग्य है कि यदि 'रजतमिदम्' नामक ज्ञान में 'इदम्' और 'रजतम्' भिन्न ज्ञान है तो ज्ञाता को दोनों के भेद का ज्ञान क्यों नहीं होता है ? यदि दोनों भिन्न नहीं हैं तो 'रजतमिदम्' को एक ज्ञान मानना होगा और इस तरह भेदाग्रह या विवेकाग्रह कहना अनुचित हो जाता है।'यह सर्प है' या 'यह रजत है' नामक ज्ञान के अभाव में, मात्र भेद–ज्ञान के अभाव के कारण, हमें भय क्यों होता है या रजत लेने की प्रवृत्ति

क्यों होती है ? यदि यह कहाँ जाय कि समानता के कारण ये क्रियाएँ होती हैं तो प्रश्न उठता है कि भेद–ज्ञान के अभाव में समानता का ज्ञान कैसे होता है ? यदि रजत या सर्प–ज्ञान यहाँ स्मरणात्मक है, तो वे दिखाई कैसे पडते हैं ? यदि यह कहा जाय कि स्मृति होते हुए दिखाई पड़ता है तो स्मृति और प्रत्यक्ष के विषय में भ्रम मानना होगा। भ्रम समाप्त होने के पश्चात् हम यह नहीं कहते कि रजत या सर्प स्मृति मात्र था, अपितु हम यह कहते हैं कि हमने शुक्तिका को रजत या रज्जु को सर्प समझा था। इससे स्पष्ट होता है कि प्रभाकर का कथन अयुक्त है।

असत्ख्यातिवाद

माध्यमिक बौद्धों में विशेषरूप से नागार्जुन के ख्यातिविषयक मत को असत्ख्याति की संज्ञा दी गयी है। नागार्जुन प्रणीत माध्यमिककारिका, विग्रहव्यावर्तनी, शून्यतासप्तति माध्यमिक बौद्धों के प्रामाणिक ग्रंथों में से हैं। नागार्जुन शून्यता को मानते हुए उसे विचार की चार कोटियों से मुक्त रखते हैं। विश्व को या तो सत् कहा जा सकता है, या असत् कहा जा सकता है, या उभयात्मक (सदसत्) कहा जा सकता है, या अनुभयात्मक (न सत् न असत्) कहा जा सकता है। नागार्जुन अपनी शून्यता को उक्त चारों कोटियों से मुक्त रखते हुए शून्यता की शून्यता का दर्शन प्रतिपादित करते हैं। इस मत में सब कुछ असत् होने से ख्याति भी असत् की होती है। यहाँ भासर्वज्ञ द्वारा उपस्थापित असत्–ख्याति पर चर्चा करने से पूर्व शून्यता पर संक्षिप्त चर्चा आवश्यक है।

अधिकांश बौद्धेतर दार्शनिकों ने शून्यता को अभाव अथवा मिथ्या कहा है। शंकराचार्य शून्यता को नहीं मानते क्योंकि उनके अनुसार सत् को स्वीकार किये बिना असत् का प्रतिपादन असंभव है। आधुनिक व्याख्याकारों में से कुछ व्याख्याकार शून्यता को निःस्वभावता, नैरात्म्य एवं प्रज्ञापारमिता कहते हैं, और कुछ व्याख्याकार लौकिक एवं पारमार्थिक विषयों की निःसत्त्वता। दूसरे वर्ग के व्याख्याकारों के अनुसार व्यावहारिक स्तर पर शून्यता विषयों की सापेक्षता है और पारमार्थिक स्तर पर वह शून्यता की शून्यता है। सामान्य रूप से 'शून्यता' पद रिक्त या अभाव का वाचक होता है, परन्तु बौद्ध दर्शन में यह कुछ और रूप से प्रस्तुत हुआ है। हीनयान सम्प्रदाय शून्यता को पुद्‌गल नैरात्म्य मानते हैं तो महायान इसे धर्म नैरात्म्य कहते हैं। महायानी इसे लौकिक ज्ञान के पारमार्थिक मिथ्यात्व का सिद्धान्त मानते हैं। चूँकि नागार्जुन माध्यमिक शून्यवाद के प्रतिष्ठापक हैं इसीलिये नागार्जुन के संदर्भ में ही यहाँ शून्यवाद को समझने का प्रयास किया गया है।

नागार्जुन के अनुसार प्रतीतियों या उनके विषयों के नियामक के रूप में स्वभावयुक्त द्रव्य–सत्ता की कल्पना नहीं करनी चाहिये। विषय जिस रूप में प्रतीत होता है उस रूप में उसका कोई द्रव्यगत नियामक नहीं होता है। इसे ही धर्म–नैरात्म्य या शून्यता कहा गया है और इसी का ज्ञान प्रज्ञापारमिता है। प्रज्ञा के लिये सभी प्रतीति या विषय प्रतिबिम्ब मात्र होते हैं। और प्रज्ञा में विषय–भेद नहीं होने से प्रज्ञा और शून्यता अभिन्न होते हैं।

नागार्जुन प्रतीत्यसमुत्पाद की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि सभी धर्म प्रतीत्यसमुत्पन्न होने से स्वभाव से रहित होते हैं। सबका भाव परापेक्षी होता है, परिणामतः कोई वस्तु स्वभावयुक्त नहीं कही जा सकती है। कोई वस्तु ऐसी नहीं जो प्रतीत्यसमुत्पन्न नहीं हो और इस तरह स्वभावयुक्त हो। इसे ही सर्व–धर्म–निःस्वभावता कहा गया है। प्रतीत्यसमुत्पाद की प्राचीन व्याख्या कार्य–कारण के रूप में किया गया था, परन्तु नागार्जुन उसे सापेक्षता का सूत्र मानते हुए कहते हैं कि जो प्रतीत्यसमुत्पाद है वही शून्यता है और वही मध्यमाप्रतिपद् है। ''यः प्रतीत्यसमुत्पादः शून्यतां तां प्रचक्ष्महे। सा प्रज्ञप्तिरूपादाय प्रतिपत्सैव मध्यमा।।''[21] व्यावहारिक स्तर पर भी कार्य–कारण भाव सापेक्षता ही है। किसी भी पदार्थ के स्वभाव का निर्धारण यदि दूसरों की अपेक्षा रखता है तो फलतः किसी भी पदार्थ का स्वभाव संभव नहीं है। पदार्थों की यह निःस्वभावता ही उनकी शून्यता है। प्रतीत्यसमुत्पाद का ज्ञान प्रपञ्च के मिथ्यात्व का ज्ञान है, परमार्थतः न तो निरोध है, न उत्पाद होता है, न उच्छेद होता है और न ही शास्वत है, न एकता है, न अनेकता है, न आगमन है, न निर्गमन है, यह प्रपंचोपशम है, शिव है।

''अनिरोधमनुत्पादमनुच्छेदमशास्वतम्।
अनेकार्थमनानार्थमनागममनिर्गमम्।।
यः प्रतीत्यसमुत्पादः प्रपञ्चोपशमं शिवं।
देशयामास सम्बुद्धस्तं वन्दे वदतां वरम्।।''[22]

विचार की चारों संभावित कोटियों से मुक्त यह शून्यता सभी दृष्टियों का प्रतिषेध है परन्तु स्वयं में कोई दृष्टि नहीं है। यह प्रतिषेधात्मक भी नहीं है क्योंकि यह प्रतिषेध का भी प्रतिषेध है। शून्यता सभी दृष्टियों से निकलने का द्वार है और जो शून्यता को दृष्टि मानते हैं वे नागार्जुन के अनुसार असाध्य हैं।

''शून्यता सर्वदृष्टीनां प्रोक्ता निःसरणं जिनैः।
येषां तु शून्यता दृष्टिस्तानसाध्यान् बभाषिरे।''[23]

नागार्जुन के अनुसार कोई भी वस्तु न स्वतः उत्पन्न होती है, न परतः, न 'स्वतः+परतः' से, न 'न स्वतः न परतः' से। चतुर्थ विकल्प निषेध का निषेध होते हुए भी तीसरे विकल्प की स्वीकारोक्ति नहीं है क्योंकि चतुर्थ विकल्प हेतु मात्र का निषेध करता है, न कि हेतुओं के समुच्चय का। नागार्जुन के शब्दों में–"न स्वतो नापि परतो न द्वाभ्यां नाप्यहेतुतः उत्पन्ना जातु विद्यन्ते भावाः क्वचन केचन"[24]–इनमें से प्रथम दो कोटियाँ ऐकान्तिक है, तीसरा समुच्चयात्मक और चौथी कोटि अनिर्वचनीयता की स्थिति है।

शून्यवादियों के अनुसार तत्त्वतः सभी वस्तुएँ शून्य होती हैं क्योंकि आदि और अन्त में वस्तु जैसी होती है, मध्य में भी वह वैसी ही होती है। उत्पत्ति से पूर्व वस्तु शून्य होती है, विनाश के पश्चात् भी वह शून्य होती है, अतः मध्य में भी वह शून्य होती है। वर्त्तमानत्व कुछ नहीं होता है क्योंकि वर्तमान निर्देश से पूर्व भविष्यत् होता है और निर्देश के पश्चात् भूत हो जाता है। भविष्यत्, वर्तमान और भूत कुछ भी नहीं अपितु शून्य हैं। यहाँ प्रश्न उठता है कि समस्त सामर्थ्य रहित निस्तत्त्व प्रपञ्च जो अत्यन्त असत् होता है वह अनुभव का विषय कैसे हो सकता है ? "प्रपञ्चस्य पुनरत्यन्तासतो निरस्तसमस्तसामर्थ्यस्य निस्तत्त्वस्य कुतोऽनुभवविषयभावः "[25]? इस प्रश्न का उत्तर वाचस्पति भामती और तात्पर्यटीका दोनों ही ग्रंथों में समान स्वर से देते हैं। उनके अनुसार विषय के समस्त सामर्थ्य के विरह में भी उसका ज्ञान ही अपने प्रत्यय से प्राप्त सामर्थ्य से असत् का प्रकाशन करता है। यद्यपि वह सामर्थ्य बाह्य दृष्टान्त में अनुभूत नहीं होता है तथापि वह असत् को प्रकाशित करता है। असत् को प्रकाशित करने की शक्ति ही अविद्या है। "न च विषयस्य समस्तसामर्थ्यस्य विरहेऽपि ज्ञानमेव तत्तादृशं स्वप्रत्ययसामर्थ्यासादितादृष्टान्तसिद्धस्वभावभेदमुपजातमसतः प्रकाशनं तस्मादसत्प्रकाशनशक्ति– रेवाविद्येति साम्प्रतम्।"[26]

तात्पर्यटीका में वाचस्पति शून्यवादी बौद्धों के असत्ख्याति को प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि भ्रमस्थल में मिथ्याज्ञान असत् को प्रकाशित करता है। असत् को प्रकाशित करने का सामर्थ्य ही मिथ्याज्ञानों का अविद्यात्व कहलाता है और वह अनिर्वचनीय होता है। भ्रमस्थल में 'रजतमिदम्' नामक ज्ञान मिथ्या होता है और 'नेदं रजतम्' उसका बाधक प्रत्यय होता है। इस बाधक प्रत्यय के अनुरोध से स्पष्ट है कि भ्रमस्थल में 'रजतमिदम्' नामक मिथ्या प्रत्यय असत् को प्रकाशिल करने वाला ही होता है। "नेदं रजतम्" नामक बाधक–ज्ञान भ्रम स्थल में रजत–ज्ञान के विषय के असत्त्व को ग्रहण

करता है। यह नहीं कह सकते कि असत् के विषय का भाव उपपादित नहीं होता। अतः असत् में विषयत्व नामक कारणत्व नहीं होना चाहिये। असत् में भी विषयत्व नामक कारणत्व होता है और असत् को प्रकाशित करने का अतिशय सामर्थ्य असत् कारण के अधीन होता है। जिस प्रकार से सत् गोचर होता है उसी के तुल्य असत् को प्रकाशित करने का अतिशय सामर्थ्य उस प्रकारक ज्ञान के असत् को भी गोचर कराता है। चूँकि असत् के ज्ञान के सामर्थ्य से ही असत् का भाव सिद्ध होता है इसीलिये असत् को गोचर कराने के क्रम में विषय के सामर्थ्य का उपयोग नहीं होता है। असत् को प्रकाशित करने का सामर्थ्य ही मिथ्याज्ञानों का अनिर्वचनीय अविद्यात्व है।'' सन्तु तर्हि बाधकप्रत्ययानुरोधादसत्प्रकाशनशीला एव मिथ्याप्रत्ययाः। तथाहि बाधकं विज्ञानं नेदं रजतमिति रजत ज्ञानगोचरस्यासत्त्वं गृह्णाति। न चासतो विषयभावो नोपपद्यते। न हि विषयत्वनाम कारणत्वं येनासति न स्यात्, किं तु स्वकारणाधीनः सामर्थ्यातिशयः। स तादृशो ज्ञानस्य, येन सन्तमिवासन्तमपि गोचरयति। न च विषयसामर्थ्यमत्रोपयुज्यते, ज्ञानस्य सामर्थ्यादेव तद्भावसिद्धेः। अतएवासत्प्रकाशनसामर्थ्यमेव मिथ्याज्ञानानामविद्यात्वमनिर्वचनीयं केचिदास्थिषत।''[27]

जैन नैयायिकों द्वारा असत्ख्याति का वर्णन वाचस्पति एवं भासर्वज्ञ दोनों से भिन्न है। जैन के अनुसार भ्रम स्थल में ज्ञाता 'रजतमिदम्' कहता है तो प्रतिभासमान वस्तु ज्ञान होना चाहिये वा अर्थ होना चाहिये। परन्तु वह प्रतिभासमान वस्तु न तो ज्ञान है न अर्थ। अतएव वहाँ असत् ही प्रतिभासित होता है, इसीलिये भ्रमस्थल में असत्ख्याति कही जाती है। वह प्रतिभासमान वस्तु ज्ञान नहीं है, क्योंकि (क) यदि प्रतिभासमान वस्तु स्वयं अपने अन्तर्मुख से आकार के कारण कहता है कि 'अहं रजतम्' तो यह अहंकार प्रतिभास का समानाधिकरण्य होने से 'अहं रजतम्' नामक अहंकार स्वयं अप्रतिभासित रह जाता है। (ख) और ज्ञाता आकार के आधार पर प्रतिभासमान वस्तु को 'रजतमिदम्' कहता है तो इसको प्रतिभासमानत्व ही कहा जायेगा। प्रतिभासमानत्व के आधार पर भ्रम स्थल में 'रजतमिदम्' को ज्ञान कहना उचित नहीं है। प्रतिभासमान वस्तु को अर्थ भी नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि (क) उस प्रतिभासमान रजत में अर्थक्रियाकारित्व का अभाव होता है, और जिसमें अर्थक्रियाकारित्व का अभाव होता है वह अर्थ नहीं होता है। (ख) पुनः भ्रम समाप्त होने पर 'नेदं रजतमिति' कहते हैं तो वह 'रजतमिदम्' का बाधक प्रत्यय होता है। इस बाधक प्रत्यय से भ्रम में मिथ्या ज्ञान का विषय

बाध्य होता है। अतः विषय के अर्थ के बाध्यमानत्व के कारण प्रतिभासमान वस्तु को अर्थ नहीं कहा जा सकता है। इस प्रकार से स्थापित होता है कि प्रतिभासमान वस्तु न ज्ञान है, और न उसे अर्थ कहना संगत है, अतः वहाँ असत् ही प्रतिभासित होता है, और यही असत्ख्याति है। ''तथाहीदं रजमिति प्रतिभासमानं वस्तु ज्ञानमर्थो वा भवेत् न तावज्ज्ञानम्। अन्तर्मुखाकारतयाऽहं रजतमित्यहंकारसमानाधिकरण्येनाप्रतिभासमानत्वात्। इदं रजतमिति बहिर्मुखाकारतया प्रथमानत्वाच्च नाप्यर्थः। तत्साध्यार्थक्रियाकारित्वाभावात्। नेदं रजतमिति बाधकप्रत्ययेन वितथज्ञानविषयीकृतस्य वस्तुनोऽर्थताया बाध्यमानत्वाच्च। ततोऽसदेव तत्तत्र प्रतिभातमित्यसत्ख्यातिः।''[28]

भासर्वज्ञ के अख्याति विरोधी तर्कों को सत्य कहते हुए असत्ख्यातिवादियों का कथन है कि भ्रम स्थल में विचार्यमाण न सद् रूप है वा न असद् रूप है, अतः वहाँ असत्ख्याति ही इष्ट है। शुक्तिकादि में शुक्लादि का प्रतिभास भ्रान्त नहीं है, रजत का प्रतिभास भ्रान्त है, और वह रजत का प्रतिभास रजताकार नहीं है, अतः भ्रमस्थल में असत्ख्याति ही इष्ट है। ''अन्यस्त्वाह–सत्यं भवतोक्तं तथापि स प्रतिभासमानोऽर्थः सद्रूपो वा असद्रूपो वा विचार्यमाणो नास्तीत्यतोऽसत्ख्यातिरेवेष्टा। शुक्तिकादिष्वपि न शुक्लादिप्रतिभासो भ्रान्तः, किं तर्हि ? रजतप्रतिभासः, स च रजताकारस्त नास्तीत्यतोऽसत्ख्यातिरेवेति।''[29]

इस प्रसंग में भूषणकार असत्ख्याति के विरोध में प्रसिद्धार्थख्यातिवादी चार्वाक के मत को प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि आकाश कुसुम के तुल्य असत् का प्रतिभास असंभव है। और पुनः भ्रान्ति स्थल में रजत–अर्थ तथा रजत के प्रतिभास में भिन्नता पायी जाती है अतः उस भिन्नता के अभाव की समस्या उठ जाती है। इसी आधार पर असत्ख्याति को प्रसिद्धार्थख्यातिवादी चार्वाक अयुक्त कहते हैं। ''तदप्ययुक्तमित्यपरः। कस्मात् ? असतः खपुष्पादिवत् प्रतिभासासंभवात्। भ्रान्तिवैचित्र्याभावप्रसंगश्च।''[30] प्रसिद्धार्थख्याति की चर्चा हम आगे करेंगे, यहाँ पर असत्ख्याति के विरोध में जयन्त का मत द्रष्टव्य है।

जयन्त के अनुसार भ्रम स्थल में असत्ख्याति कहना अनुचित है क्योंकि असत्ख्याति की उपपत्ति ही नहीं होती है। असत्ख्याति को स्पष्ट करने के लिये जयन्त पूछते हैं कि (1) क्या असत्ख्याति पूर्णरूपेण असत् का प्रदर्शन करता है वा (2) क्या वह भिन्न देश और काल में विद्यमान अर्थ का प्रकाशन करता है। दूसरे विकल्प में असत्ख्याति नहीं अपितु वह विपरीत ख्याति हो जाता है क्योंकि वहाँ रजत की सत्ता नहीं होती है, परन्तु देशान्तर

में रजत की सत्ता का ज्ञान आपके द्वारा भी माना जाता है। प्रथम विकल्प भी संभव नहीं है क्योंकि अत्यन्त असत् अर्थ का प्रतिभास संभव नहीं है। आकाश कमल जो अत्यन्त असत् है उस आकाश कमल के पल्लवादि का प्रतिभास नहीं होने से अत्यन्त असत् अर्थ का प्रतिभास मानना संगत नहीं है। यह नहीं कह सकते कि वासना के अभ्यास से अत्यन्त असत् अर्थ का प्रतिभास होता है क्योंकि अर्थ के विना वासना की उत्पत्ति भी संभव नहीं है। यहाँ 'वासना' को परिभाषित करते हुए जयन्त कहते हैं कि अर्थ के अनुभव से समाहित संस्कार को ही वासना कहा जाता है और उसे असत् अर्थ के प्रतिभास का हेतु नहीं होना चाहिये। असत्ख्यातिवादी वासना को किसी और रूप से परिभाषित करने में सक्षम हो सकते हैं, परन्तु उस वासना की भी विषयगत असत्ता होने के कारण प्रश्न उठता है कि क्यों वह वासना 'यह रजत है' नामक बुद्धि उत्पन्न करती है और 'यह आकाश कमल है' नामक बुद्धि को उत्पन्न नहीं करती है। यह स्पष्ट नहीं है कि किस नियम से असत्ख्यातिवादी ऐसी समस्याओं का समाधान करते हैं। अतः जयन्त कहते हैं कि असत्ख्याति को छोड़ ही देना चाहिये। ''तत्किमसत्ख्यातिरेव साधीयसी ? तामेवाभ्युपगच्छाम ? मैवम्। सापि नोपपद्यते एव। असत्ख्यातिरिति कोऽर्थः ? किमेकान्तासत एवार्थस्य प्रथनम्, अथ देशान्तरादौ विद्यमानस्येति ? उत्तरस्मिन् पक्षे विपरीतख्यातिरेवैषा, परैरपि तत्र रजतस्य सत्त्वानभ्युपगमात्। देशान्तरादौ तु तत्सत्तायास्त्वयापि प्रतिपन्नत्वात्। एकान्तासतस्त्वर्थस्य ख्यातिरिति न पेशलम्, आकाशनलिनीपल्लवादेरप्रतिभासनात्। वासनाभ्यासादसतामपि प्रतिभासा भविष्यन्तीति चेद्, न। अर्थमन्तरेण वासनाया अप्यनुपपत्तेः। अर्थानुभवसमाहितो हि संस्कारो वासना कथ्यते, सा कथम्–सदर्थप्रतिभासहेतुः स्यात् ? भवत्वन्या वा भवदभिमता काचन वासना अपित्व सत्त्वाविशेषे किमिति रजतमितिम् उपजनयति न गगननलिनी प्रतीतिमिति कुतस्त्यो नियमः? तदलमनया।''[31]

प्रसिद्धार्थख्याति

चार्वाक भ्रान्ति स्थल में प्रसिद्धार्थख्याति मानते हैं। उनके अनुसार सभी वस्तुयें प्रमाण से सिद्ध होकर ही प्रतिभासित होती हैं। जिस भाँति हथेली की सत्ता प्रतिभास के बल से ही सिद्ध होती है उसी तरह प्रतिभास के बल से ही रजत की सत्ता सिद्ध हो जाती है। इस ख्याति की चर्चा न्यायभूषण के अतिरिक्त स्याद्वादरत्नाकर में भी पूर्वपक्ष के रूप में उपलब्ध है।

प्रसिद्धार्थख्यातिवादियों का कथन है कि जिस प्रकार आकाश–कुसुम का प्रतिभास असंभव है उसी के तुल्य असत् का प्रतिभास असंभव होने से असत्ख्याति अयुक्त है। उनका दूसरा तर्क है कि वास्तविक रजत–अर्थ और भ्रान्त रजत–प्रतिभास में भिन्नता (वैचित्र्य) पायी जाती है। असत्ख्याति मानने से इस भिन्नता के अभाव की समस्या उठ जाने से असत्ख्याति अयुक्त है। उनके अनुसार असत्ख्यातिवादी न अर्थगत विभिन्नता ही मानते हैं और न ज्ञानगत विभिन्नता जिससे कि अनेक आकारक भ्रांति प्रतीत हो। फलतः भ्रान्ति में भी प्रमाण–सिद्ध विचित्र अर्थ ही प्रतिभासित होता है। इस तरह उस विचार्यमाण रजत का असत्त्व ही स्थापित होता है। भ्रम में विचार्यमाण रजत को असत्त्व कहने का विचार प्रतीति का व्यतिरेकी होने से भी असंभव है और फलतः विचार्यमाण रजत को असत्त्व नहीं कहा जा सकता है। और उसे असत्त्व कहने से प्रतीत रजत बाधित हो जाता है, फलतः विचार्यमाण रजत को असत्त्व कहना उचित नहीं है। प्रसिद्धार्थख्यातिवादी के अनुसार हथेली का सत्त्व भी प्रतिभास के बल से ही सिद्ध होता है, उसी तरह रजत–प्रतिभास में रजत का सत्त्व भी प्रतिभास के बल से ही सिद्ध होता है। और वह प्रतिभास अन्यत्र भी होता है। यद्यपि उत्तर–काल में वह अर्थ उस प्रकार से प्रतिभासित नहीं होता जिस प्रकार से पूर्वकाल में हुआ था तथापि जिस समय प्रतिभासित होता है उस समय वह सत्त्व ही होता है। यह कहना सही नहीं है कि भ्रान्ति स्थल में उत्तर काल में रजत के सत्त्व नहीं होने से पूर्वकाल में रजत सत्त्व नहीं था। अन्यथा आकाशीय विद्युत की सत्ता भी सिद्ध नहीं होनी चाहिये क्योंकि आकाशीय विद्युत भी उत्तर काल में उस प्रकार प्रतिभासित नहीं होता है जिस प्रकार से पूर्व काल में होता है। इसीलिये भ्रमस्थल में प्रसिद्धार्थख्याति ही युक्त है। "तदप्ययुक्तमित्यपरः। कस्मात् ? असतः खपुष्पादिवत् प्रतिभासासम्भवात्। भ्रान्तिवैचित्र्याभावप्रसंगश्च। नह्यसत्ख्यातिवादिनोऽर्थगतं ज्ञानगतं वा वैचित्र्यमस्ति, येनानेकाकारा भ्रांतिः प्रतीयेत, तस्मात्प्रमाणसिद्ध एव विचित्रोऽर्थः प्रतिभाति भ्रान्तावपि। न च तस्य विचार्यमाणस्यासत्त्वं, विचारस्य प्रतीतिव्ययतिरेकेणान्यस्यासम्भवात्, प्रतीतिबाधितत्वाच्च। करतलादेरपि प्रतिभासबलेनैव सत्त्वं सिध्यति, स च प्रतिभासोऽन्यत्राप्यस्ति, यद्यप्युत्तरकालं तथा सोऽर्थो न प्रतिभाति, तथापि यदा प्रतिभाति तदा तावदस्त्येव। अन्यथा विद्युदादेरपि सत्त्वसिद्धिर्न स्यादिति। तस्मात् प्रसिद्धार्थख्यातिरेव युक्तेति।"[32]

प्रसिद्धार्थख्याति को निरूपित करते हुए स्याद्वादरत्नाकर में कहा गया है कि प्रतीति से सिद्ध वस्तु ही विपर्यय में भासित होता है। प्रतीति के सामर्थ्य के आधार पर ही वस्तु के विद्यमानत्व को स्थापित किया जाता है। परन्तु इस विचार का सहन नहीं कर पाने से विपर्यय में प्रतीत वस्तु का अविद्यमानत्व वचनीय नहीं है क्योंकि वहाँ प्रतीत को छोड़ अन्य विचार की उपपत्ति ही नहीं होती है। प्रतीत नहीं होने से पाणिपल्लव से युक्त वस्तु अप्रामाणिक स्थूल कहा जाता है वृक्ष नहीं। प्रतीत नहीं होने से वह अविद्यमान ही कहलाता है जिससे यह सिद्ध होता है कि प्रतीति के सामर्थ्य से ही वस्तु का विद्यमानत्व स्थापित होता है। और वह प्रतीति इतर स्थल में राजा के शासन से अवरूद्ध नहीं होता है जिससे यह कहें कि वस्तु अविद्यमान है। चाकचिक्यादि धारण किये हुए शुक्तिका में चाकचिक्यादि के फलस्वरूप दूर से वस्तु का प्रतिभास उस देश के निकट में होने से वस्तु का विद्यमानत्व, और उत्तरकाल में उस वस्तु के प्रतिभास का अभाव पाये जाने से पूर्व काल में उस वस्तु का अविद्यमानत्व वाच्य नहीं है। उत्तर काल में वह वस्तु प्रतिभासित नहीं होती है तो उस समय वह अविद्यमान होती है तथापि जिस समय प्रतिभासित होती है उस समय विद्यमान ही मानना चाहिए। अन्य प्रकार से तो पानी के बुल–बुले का भी उनके अपने प्रतिभास के समय में उसके सत्त्व की सिद्धि नहीं होनी चाहिये क्योंकि उत्तर काल में बुल–बुले के प्रतिभास का अभाव पाया जाता है। इस प्रकार प्रसिद्धार्थख्यातिवादी कहते हैं कि प्रतीति के सामर्थ्य से ही वस्तु का सत्त्व सिद्ध होता है, अतः भ्रमस्थल में उस समय रजत का सत्त्व ही मानना चाहिए। "तथाहि प्रतीतिसिद्धमेव वस्तु विपर्ययज्ञाने चकास्तिन चास्य विचारताऽसहत्वादविद्यमानत्वं वचनीयम्। प्रतीतिं परित्यज्यान्यस्य विचारस्यैवानुपपत्तेः। पाणिपल्लवन्यस्तनिस्तुल–स्थूलमुक्ताफलादेरपि यतः प्रतीतिसामर्थ्येनैव विद्यमानत्वं व्यवह्रियते।

सा च प्रतीतिरितरत्रापि न नृपतिशासननिरूद्धा। न चेदं वाच्यं दूरतः शुक्तिकाशकलादौ कलधौतादेर्वस्तुनः प्रतिभासस्य तद्देशोपसर्प्पणे सत्युत्तरकालं प्रतिभासस्याभावादविद्यमानत्वमिति। यतो यदि नामोत्तरसमयं तद्वस्तु न प्रतिभासते तथापि यत्समयं प्रतिभासते तदा तावद्विद्यत एव। इतरथा तोयबुद्बुदादेरपि स्वप्रतिभाससमये सत्त्वसिद्धिर्न भवेत्।"[33]

अलौकिकार्थख्याति

भासर्वज्ञ प्रसिद्धार्थख्याति का प्रत्याख्यान करने के क्रम में अलौकिकार्थख्याति की चर्चा करते हैं। इनके अतिरिक्त उम्बेकभट्ट

श्लोकवार्त्तिकव्याख्यातात्पर्यटीका में अख्यातिवाद के पूर्व पक्ष के रूप में इस ख्याति को प्रस्तुत करते हैं। यहाँ पहले भासर्वज्ञ और पुनः उम्बेकभट्ट का मत प्रस्तुत किया जाना समाचीन होगा।

प्रसिद्धार्थख्यातिवादी का मत कि जिस समय जो अर्थ प्रतिभासित होता है उस समय वह प्रमाण–सिद्ध होता है। परन्तु अलौकिकार्थख्यातिवादी को यह स्वीकार नहीं है। उनके अनुसार जिस प्रकार से अर्थ व्यवस्थित होता है उस प्रकारक व्यवस्थित अर्थ का ग्रहण नहीं होने की स्थिति में भ्रान्त और अभ्रान्त अर्थ के व्यवहार का अभाव होना चाहिये। दूसरे शब्दों में अभ्रान्त रजत का आपणादि में व्यवहार तथा भ्रान्त रजत का आपणादि में व्यवहार का अभाव होना चाहिये। और भी मृगमरीचिका में जल की प्रतीति को प्रमाण–सिद्ध मानने से पश्चात् काल में जल के अभाव में भी जल का अनुगामी भूस्निग्धता नामक जल का चिह्न उपलब्ध होना चाहिये। जिस तरह आकाशीय विद्युत का अनुगामी रहित विनाश शीघ्रता से उपलब्ध होता है उस तरह जल का अनुगामी रहित विनाश शीघ्रता से नहीं होता है। भूस्निग्धता नामक जल का अनुगामी शीघ्रता से विलीन नहीं होता है। मृगमरीचि का में जहाँ प्रसिद्धार्थख्यातिवादी जल को प्रमाण–सिद्ध कहते हैं उन सभी देशों में द्रष्टा को जल का अनुगामी 'भूस्निग्धता' नामक चिह्न के साथ विसंवाद के फलस्वरूप भी आकाशीय–विद्युत के तुल्य मृग–मरीचिका में जल का प्रत्यक्ष होना चाहिये। जल को उसके अनुगामी 'भूस्निग्धता' के साथ विसंवाद में बाध्य–बाधक भाव की प्राप्ति नहीं होती है जिससे कि जल के बाध्य होने से उसका प्रत्यक्ष न हो। बाध्य–बाधक भाव की प्राप्ति के लिये आवश्यक है कि सभी ज्ञानों के प्रमाण से सिद्ध विषय विशेषित हों परन्तु वे विषय यहाँ अविशेषित हैं, अतः बाध्य–बाधक भाव नहीं है। इसीलिये भ्रम स्थल में यह अर्थ अलौकिक रूप से प्रतिभासित होता है। उस कारण से भ्रम स्थल में अलौकिकार्थख्याति ही इष्ट है। "नैतदप्युपपन्नम् यथा–व्यवस्थितार्थग्रहणाविशेषे हि भ्रान्ताभ्रान्तव्यवहाराभावः स्यात्। अपि चोत्तरत्रोदकादेरभावेऽपि तच्चिह्नस्य भूस्निग्धतादेरूपलम्भः स्यात्। न हि विद्युदादेरिवोदकादेरप्याशुभावी निरन्वयो विनाशः क्वचिदुपलभ्यते, सर्वतद्देशद्रष्ट्टविसंवादेनोपलम्भश्च विद्युदादेरिव स्यात्। वाध्यवाधकभावश्च न प्राप्नोति, सर्वज्ञानानां प्रसिद्धार्थविषयत्वाविशेषादिति। तस्मादलौकिकोऽयमर्थ एवं प्रतिभाति, तेन अलौकिकार्थख्यातिरेवेष्टेत्याह कश्चित्।"[34]

अलौकिकार्थख्याति में सभी ज्ञानों को सत्य कहा गया है। भ्रम स्थल में 'रजतमिदम्' का ज्ञान प्रत्यक्ष–प्रमाण से अवभासित होता है और जैसे अन्य प्रत्यक्षजन्य अवभासन प्रामाणिक होता है, वैसे ही यहाँ रजत का अवभास या मृगमरीचिका में जल का अवभास प्रामाणिक होता है। अन्तर यह है कि जिस जल से भूस्निग्धा नामक व्यवहार होता है या पुनः जिस रजत से आपण–व्यवहार होता है वह लौकिक है और जिससे भूस्निग्धता या आपण–व्यवहार नहीं होता है वह अलौकिक है।

उम्बेकभट्ट अलौकिकार्थख्याति की चर्चा अख्यातिवाद के पूर्वपक्ष के रूप में करते हैं। प्रभाकर के अनुसार भ्रम स्थल में 'रजतमिदम्' के प्रतिभास में 'इदमंश' प्रत्यक्षात्मक और 'रजतमंश' स्मरणात्मक ज्ञान है। ये दोनों ज्ञान भिन्न हैं और ज्ञाता द्वारा दोनों ज्ञानों के भेद को ग्रहण नहीं कर पाने से भेदाग्रह या अख्याति नामक विपर्यय होता है। पूर्व पक्ष प्रस्तुत करते हुए उम्बेकभट्ट कहते हैं कि ज्ञान पर विचार करने में कुशल व्यक्ति के अनुसार यह दो नहीं अपितु एक ही सत्य ज्ञान है। उनका कथन है कि अपरोक्ष रूप से यहाँ रजत ही अवभासित होता है। भ्रम में अवभासित होने के उपरान्त भी यह ज्ञान अप्रमाण नहीं है क्योंकि प्रतिभास के अविशेषित होने से इतर स्थल के रजत के तुल्य यहाँ भी अपरोक्ष रूप से रजत का ही सद्भाव है। प्रतिभास के स्तर पर भ्रमस्थल के रजत–प्रतिभास में और इतर स्थल के रजत–प्रतिभास में कोई भिन्नता नहीं है। दोनों में लौकिकत्व और अलौकिकत्व के स्तर पर भिन्नता है। प्रतिभास के अविशेषित होने में भी जो रजत लोक में व्यवहार का प्रवर्तक है वह लौकिक है, तथा जो रजत लोक में रजत–व्यवहार को प्रवर्तित नहीं करता परन्तु रजत–ज्ञान का विषय है वह अलौकिक है। दूसरे शब्दों में जिस रजत से आपण–व्यवहार होता है वह लौकिक है और जिस रजत से आपण–व्यवहार नहीं होता है वह अलौकिक है। इसी हेतु से भ्रम–स्थल के रजत–ज्ञान को अलौकिकार्थख्याति कहा गया है। उम्बेकभट्ट के अनुसार – ''संवित्परामर्शकुशलस्त्वाह–सत्यमेकमेवेदं विज्ञानम्। अपरोक्षतया चात्र रजतमेवावभासते। तथापि नैवेदं विज्ञानमप्रमाणम्, प्रतिभासाविशेषात् इतररजतविज्ञानवत् अत्राप्यपरोक्षरजतसद्भावात् लौकिकालौकिकत्वे तु विशेषः। प्रतिभासाविशेषेऽपि व्यवहार प्रवर्तकं हि लोके समतं रजतम्। यत्तु रजतव्यवहारं न प्रवर्तयति, अथ च रजतज्ञानसंवेद्यम्, तदलौकिकं रजतमिति।''[35]

प्राभाकर के मतानुसार लौकिक रजत और अलौकिक रजत के विभाग की उपपत्ति संभव नहीं है। भ्रम स्थल में सभी को सर्वदा 'रजतमिदम्'

के प्रतिभास की उपपत्ति नहीं होती है। यहाँ कभी 'रजतमिदम्' तथा कभी 'नेदं रजतम्' विधि और प्रतिषेध रूप प्रतिभासद्वय की उपपत्ति होती है। इन दोनों प्रतिभासों की उपपत्ति से प्रतिभास अविशेषित होता है, फलतः यह निर्णय नहीं होता कि प्रतिभास (1) रजत ही हो या (2) दूसरों के लिये सद् और असद् रजत युगपद रूप से हो, या (3) सद् रजत और असद् रजत क्रम से हों या (4) बाध्य (रजतमिदम्) और बाधक (नेदं रजतम्) भाव के विचार से विपरीतख्याति हो। यहाँ यह प्रश्न उठता है कि ज्ञान पर विचार करने में कुशल व्यक्ति की दृष्टि से यह लौकिकता और अलौकिकता क्या है ? उम्बेकभट्ट के शब्दों में– ''तदनुपपन्नम्, इह हि क्वचित् 'रजतमिदम्' इति सर्वेषां सर्वदा प्रतिभासोत्पत्तिः। क्वचिच्च – 'रजतमिदम्', 'नेदं रजतम्' इति विधिप्रतिषेधरूप प्रतिभासद्वयोत्पत्तिः। तत्र प्रतिभासाविशेषात् किंचिद्रजतमेव, अपरं तु सदसदात्मकं युगपत् क्रमेण वा भवतु, बाध्यबाधकपर्यालोचनेन वा विपरीतख्यातिरिति। केयमलौकिकतालौकिकता वा संवित्परामर्शस्य?''[36]

लौकिकता और अलौकिकता क्या है? प्रतिभास के आधार पर लौकिकत्व और अलौकिकत्व का विभाग नहीं होता है। रजत प्रतिभास की उत्पत्ति के समय में उस प्रतिभासित रजत की धर्मता के आधार पर लौकिकत्व और अलौकिकत्व प्रतिभासित नहीं होते हैं। यह प्रतिभासित नहीं होता कि यह रजत लौकिक है या यह रजत अलौकिक है। 'रजतमिदम्' का बाधक 'नेदं रजतम्' के ज्ञान में भी पूर्व में ज्ञात रजत के अभाव मात्र का ज्ञान होता है। पूर्व में ज्ञात रजत के मिथ्यारोपण होने में अपरोक्ष रजत की धर्मता के फलस्वरूप अलौकिकत्व या लौकिकत्वाभाव अवभासित नहीं होता है। यह ज्ञान नहीं होता कि 'यह रजत अलौकिक नहीं है' या 'यह रजत लौकिक नहीं है'। इससे स्पष्ट है कि प्रतिभास के आधार पर लौकिकत्व या अलौकिकत्व का विभाग नहीं होना चाहिये। ''न तावदयं लौकिकालौकिकत्वविभागः प्रतिभासेते–लौकिकमिदं रजतम्, अलौकिकमिदं रजतम् इति वा। 'नेदं रजतम्' इत्यत्रापि पूर्वप्रतिपन्नरजताभावमात्रावगतिः। न हि पूर्वप्रतिपन्नरजतानुवृत्तौ सत्यामेवालौकिकत्वं लौकिकत्वाभावो न अपरोक्षरजतधर्मतयावभासते। 'इदं रजतमलौकिकम्'द्व 'इदं वा रजतं लौकिकं न भवति' इति संवित् स्यात्।''[37]

यहाँ आक्षेप किया जाता है कि 'नेदं रजतम्' को 'नेदं लौकिकम्' के पद में गुणपरक व्याख्या की जाती है तो संवित्परामर्शवादी इसे रजत प्रतिभास से शून्य कैसे कहते हैं ? यह कैसे कहते हैं कि 'नेदं रजतम्' के ज्ञान में पूर्व में ज्ञात रजत के अभाव का ज्ञान होता है ? कैसे यहाँ 'नेदं रजतम्'

नामक ज्ञान में अपरोक्षरूप से प्रतिभासमान रजताभाव में 'नेदंलौकिकम्' का ज्ञान होता है? कैसे 'नेदं रजतम्' की धर्मता के आधार पर लौकिकत्वाभाव जाना जाता है ? अप्रतिभासमान धर्मी में उसकी धर्मता के आधार पर उस धर्मी में रूपरसादि निश्चित रूप से अवभासित नहीं होते हैं, अतः 'नेदं रजतम्' नामक ज्ञान में अपरोक्ष रूप से प्रतिभासमान रजताभाव में 'नेदं लौकिकम्'' का ज्ञान नहीं होता है। 'नेदं रजतम्' में रजताभाव भी रजत की धर्मता के फलस्वरूप ही अवभासित होता है न कि रजताभाव की धर्मता के फलस्वरूप। अतः उस अनवभासमान धर्मी में उसके धर्म का ज्ञान संभव नहीं है। ''ननु 'नेदं रजतम्' इति नेदं लौकिकमिति गुणपरं व्याख्यायते। तदिदं प्रतिभासशून्यं संवित्परामर्शवादी कथं ब्रूयात् ? कथं 'नेदं रजतम्' इत्यत्रापरोक्षतया प्रतिभासमाने रजताभावे 'नेदं लौकिकम्' इति तद्धर्मतया लौकिकत्वाभावोऽवसीयते ? न ह्यप्रतिभासमाने धर्मिणि तद्धर्मतया रूपरसादयोऽवभासन्ते। ननु 'नेदं रजतम्' इत्यभावोऽपि रजतधर्मतयैवावभासते, न भावमात्रधर्मतया, कथं चानवभासमाने तस्मिन् तद्धर्मावगतिः?''[38]

उक्त शंका का समाधान करते हुए उम्बेकभट्ट कहते हैं कि पूर्व में अपरोक्ष रजत की धर्मता से ज्ञात रजत ही भ्रम में इस समय स्मरण किया जाता है। उस अपरोक्ष रजत की धर्मता से ज्ञात रजत का ही अवच्छिन्न अभाव अपरोक्ष वस्तु (इदं) की धर्मता के फलस्वरूप 'नेदं रजतम्' के रूप में प्रतीत होता है, और वह अपरोक्ष 'इदं' ही बाधक–प्रत्यय 'नेदं रजतम्' के रूप में अवभासित होता है। 'नेदं रजतम्' में 'इदमंश' अपरोक्ष है, और पूर्व में अपरोक्ष रजत की धर्मता से अवच्छिन्न रजताभाव ही यहाँ प्रतीत होता है। 'शुक्ल' और 'पट' के तुल्य प्रतिषेध 'इदं' और प्रतिषेध्य 'रजत' में धर्मधर्मिभाव नहीं है। धर्मधर्मिभाव के लिये आवश्यक है कि दोनों में विरोध न हो, परन्तु यहाँ प्रतिषेध 'इदं' और प्रतिषेध्य 'रजतं' में विरोध होने से धर्मधर्मिभाव संभव नहीं है। 'नेदं रजतम्' में रजत अयुक्त होता है और अयुक्त का अनुप्रतिषेध नहीं होता है, स्मृति में ही वह युक्त होता है। न तो स्मृति में अपरोक्ष रजत की धर्मता के फलस्वरूप रजत का लौकिकत्व ज्ञात होता है और इस समय रजत का स्मरण होता है। पुनः न अपरोक्ष रूप से 'नेदं रजतम्' में रजत अवभासित होता है जिससे उसकी धर्मता के आधार पर लौकिकत्वाभाव ज्ञात हो। या यह कहें कि पूर्व में अपरोक्ष रजत की धर्मता के आधार पर अवभासित लौकिकत्व का ही इस समय अपरोक्षरूप से अवभासमान रजत में उसकी धर्मता के फलस्वरूप लौकिकत्वाभाव 'यह रजत लौकिक नहीं है' जाना जाता

है तो अलौकिक ही यहाँ लौकिकत्वेन जाना जाता है। इस तरह तो दूर जाकर भी हमें विपर्यय ज्ञान से मुक्ति नहीं मिलती है, और विपरीतख्याति होने में बोधकत्व के साथ सम्बन्ध और ज्ञान की आकारता निरस्त नहीं हो पाती है। इससे तो अच्छा है कि प्रतिभास के ज्ञान से ही विपर्यय ज्ञान स्वीकार कर लेना चाहिये। उस आधार पर यह कहा जाता है कि लौकिकत्व और अलौकिकत्व का यह विभाग प्रतिभास के आधार पर नहीं किया जा सकता है। और यह विभाग रजत–व्यवहार के होने या नहीं होने के आधार पर नहीं होता है। क्योंकि अलौकिक रजत में भी स्वप्नावस्था में अनेकों बार अर्थक्रियाकारित्व का दर्शन होता है, तथा जाग्रत अवस्था में मिथ्या विजय पताका में अर्थक्रियाकारित्व का दर्शन होता है इसी तरह उत्पन्न और विनष्ट लौकिक घट में भी घट–व्यवहार का अभाव होता है। और यह भी ज्ञातव्य हो कि जो, रजत–व्यवहार का ज्ञान नहीं कराते हैं वे रजताभाव प्रतिपादित करते हैं, न कि अलौकिकत्व। रजत–व्यवहार की निवृत्ति में अलौकिकत्व के ज्ञान से इतरेतराश्रयत्व का दोष हो जाता है क्योंकि अलौकिकत्व से रजत–व्यवहार की निवृत्ति और उसी रजत–व्यवहार की निवृत्ति में अलौकिकत्व स्थापित किया जाता है। उम्बेकभट्ट के शब्दों में –"उच्यते–यत्पूर्वं प्रतिपन्नमपरोक्षधार्मतयैव रजतम्, इदानीं च स्मर्यते तदवच्छिन्नोऽभावोऽपरोक्षवस्तुधर्मतया प्रतीयते 'नेदं रजतम्' इति। तच्चापरोक्षम् 'इदम्' इति बाधकप्रत्ययेऽवभासत एव, न तु प्रतिषेध्यप्रतिषेधयोर्धर्मधर्मिभावोऽस्ति शुक्लपटयोरिव, विरोधात्। अप्रसक्तस्यानुप्रतिषेधो नास्तीति स्मृतौ तत् प्रसक्तमेव। न त्वत्रापरोक्षरजतधर्मतया लौकिकत्वं प्रतिपन्नमिदानीं च स्मर्यते। न चापरोक्षतया रजतमवभासते येन तद्धर्मतया लौकिकत्वाभावोऽवसीयेत। अथ पूर्वमपरोक्षरजतधर्मतयावभासितस्यैव लौकिकत्वस्येदानीमपरोक्षतयावभासमाने रजते लौकिकत्वाभावस्तद्धर्मतयावसीयते 'नेदं रजतं लौकिकम्' इति वा, तर्ह्यलौकिकं लौकिकत्वेनाभासितमिति सुदूरमपि गत्वा विपर्ययज्ञानान्न मुच्यामहे इति विपरीतख्यातौ च सत्यां बोधकत्वातिप्रसक्तिः विज्ञानाकारता च न निरस्ता स्यात्। तद्वरं प्रतिभासानुगुणैव विपर्ययावगतिरभ्युपगन्तव्या। तस्मान्नायं विभागः प्रतिभासनिमित्तकः, नापि रजतव्यवहारसदसद्भावनिमित्तक, कुतः ? अलौकिकेऽपि रजते स्वप्नावस्थायामप्यसकृदर्थक्रियादर्शनात्, जाग्रदवस्थायामपि कूटजयतुंगादिषु; लौकिकेऽपि चोत्पन्नविनष्टे घटे घटव्यवहाराभावात्। अपि च ये तावद्रजतव्यवहारं न प्रत्याययन्ति ते रजताभावं प्रतिपद्यन्ते, न पुनरलौकिकत्वम्, अलौकिकत्वावगमाद्रजतव्यवहारनिवृत्तिः रजतव्यवहारनिवृत्तौ च सत्यामलौकिकत्वमिति।"[39]

लोक संमत रजत से विलक्षण यह रजत अलौकिक कहा जाता है। वह यदि अपने प्रतिभास की उत्पत्ति के समय में वैलक्षण्य से अवभासित होता है तो लोक संमत रजत के वैलक्षण्य से अवभासित होने के फलस्वरूप 'नेदं रजतम्, न लौकिकम्' नामक बाधक प्रत्यय की उत्पत्ति होती है। अब कहें कि अवैलक्षण्य से ही अवभासित होता है तो यहाँ विलक्षण अविलक्षण से अवभासित होने के कारण विपरीतख्याति हो जाता है। अब कहें कि अविलक्षण और विलक्षण दोनों धर्मों से रहित धर्मिमात्र अवभासित होता है तो उस प्रकार से भी 'नेदं लौकिकम्' नामक बाधक प्रत्यय की अनुत्पत्ति तदवस्थ ही माननी होगी। इस तरह लौकिकों का प्रमाण और अप्रमाण–व्यवहार निराधार है। साथ ही साथ ज्ञान पर विचार करने वालों के प्रतिभासशून्य की उपपत्ति पर पर्याप्त विचार कर लिया गया। अतः यहाँ विराम लेना चाहिये। "लोकसंमताच्च रजताद् विलक्षणमिदमलौकिकसंज्ञंक रजतम्, तद्यदि स्वप्रतिभासोत्पत्तिकाले वैलक्षण्येनावभासते तदा 'नेदं रजतम्, न लौकिकम्' इति बाधकप्रत्ययोत्पत्तिः प्राप्नोति, तथात्वेनैवावभासितत्वात्। अथावैलक्षण्येनैवावभासितम्, तदा विलक्षणमविलक्षणत्वेनावभासितमिति विपरीतख्यातिः। अथोभयधर्मरहितं धर्मिमात्रमवभासितं, तथापि 'नेदं लौकिकम्' इति बाधकप्रत्ययानुत्पत्तिस्तद– वस्थैव। प्रमाणाप्रमाणव्यवहारश्च लौकिकानां निर्निबन्धन एव स्यात्। तस्मादलमनया संवित्परामर्शवादिनः प्रतिभासशून्योपपत्त्यूहनिकया।"[40]

स्मृतिविप्रमोष

प्राभाकर अलौकिकार्थख्याति को सारहीन कहते हुए बदले में ख्याति विषयक स्मृतिविप्रमोष की स्थापना करते हैं। उनका कहना है कि भ्रान्ति–स्थल में रजत–प्रतिभास को प्रामाणिक कहना सारहीन है क्योंकि उस अर्थ में प्रमाणाभाव होने से वह अर्थ असिद्ध होता है। जो जल प्रत्यक्षादि प्रमाण से सिद्ध होता है वह पूर्वोक्त दोष के फलस्वरूप भ्रान्ति में प्रतिभासित नहीं होता है। भ्रान्ति में प्रतिभासित अर्थ प्रामाणिक नहीं होने से वह असिद्ध होता है। निष्प्रामाणिक असिद्ध अर्थ ही भ्रान्ति में प्रतिभासित होते हैं। प्रत्यक्षादि प्रमाण से सिद्ध अर्थ से भिन्न अर्थ किसी भी रूप में सिद्ध अर्थ नहीं कहा जा सकता है। चूँकि प्रमाण के अभाव में व्यवस्था की उपपत्ति नहीं हो पाती है इसीलिये यह कहा जाय कि भ्रम में अर्थ के निष्प्रमाणकत्व से ही अर्थ अलौकिक है, तो प्राभाकर को यह मान्य नहीं है। उनका कहना है कि निष्प्रामाणिक होने से अलौकिक नहीं, अपितु व्यवस्था की उपपत्ति नहीं होती

है। प्रमाण के अभाव में व्यवस्था की उपपत्ति मान लेने से व्यवस्था सर्वत्र अप्रामाणिक होगी और पुनः प्रश्न उठेगा है कि किस कल्पित प्रमाण से भ्रान्ति में प्रतिभासित अर्थ सिद्ध होता है? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए अलौकिकार्थख्यातिवादी कह सकते हैं कि अलौकिकार्थ को सिद्ध करने के लिये विपर्यय नामक प्रमाण की कल्पना करनी चाहिये। वे कहते हैं कि दर्शन से उत्पन्न अर्थ में चन्द्रादि की भाँति, अर्थक्रियाकारित्व होता है, और भ्रान्ति स्थल का अलौकिकार्थ भी दर्शनजनित होता है, इसीलिये वह अलौकिकार्थ अनर्थक्रियाकारी नहीं है। परन्तु स्मृतिविप्रमोषवादी को यह स्वीकार्य नहीं है। उनका कहना है कि भ्रान्तिस्थल में अर्थ बाध्यमान होता है और अलौकिकार्थवादी के उक्त मत को मानने से भ्रान्ति स्थल में प्रतिभासित अर्थ के, चन्द्रादि के दर्शन के तुल्य, अबाध्यत्व की समस्या उठ जाती है। पुनः लोक या शास्त्र में बाध्यमान अर्थ का प्रमाणत्व नहीं देखा जाता है, अतः अलौकिकार्थ ख्याति में जिस प्रकार से अर्थ को प्रमाण–सिद्ध कहा गया है वह सर्वथा अनुचित है। और भी, जिस प्रकारक अर्थ प्रत्यक्षादिप्रमाण से जाना जाता है उस प्रकारक अर्थ ही भ्रान्ति ज्ञान में भी प्रतिभासित होता है तो वह अन्य (प्रत्यक्षादि प्रमाण से ज्ञात अर्थ से अन्य भ्रान्ति में प्रतिभासित अर्थ) अलौकिक नहीं है। इस कारण से यह भ्रम स्मृतिविप्रमोष कहा जाता है। भ्रान्ति में प्रतिभासित अर्थ पूर्व में देखे गये अर्थ का अनुकारी होता है अतः उसके दृष्टार्थ का अनुकारित्व होने से वह अन्य (भ्रान्ति में प्रतिभासित अर्थ) स्मृति तुल्य होता है। वस्तुतः स्मृतिविप्रमोष में स्मृतित्व के अवधारण का अभाव हुआ करता है। भ्रम में शुक्तिका के साथ इन्द्रिय सन्निकर्ष होने से 'इदम्' का ज्ञान तथा वहाँ रजत का संस्कार होने से 'रजतमिदम्' का ज्ञान स्मृतिविप्रमोष है। भासर्वज्ञ के शब्दों में –''तदप्यसारम्, तस्यार्थस्य प्रमाणाभावादसिद्धेः। यस्तावत्तोयादिरर्थः प्रत्यक्षादिसिद्धः स भ्रान्तौ न प्रतिभात्येव, पूर्वोक्तदोषात्। प्रत्यक्षादिसिद्धाद्व्यतिरिक्तस्तु कुतः सिद्ध इति? निष्प्रमाणकत्वादेवा–लौकिकोऽसाविति चेत्, न, प्रमाणाभावे व्यवस्थानुपपत्तेः। अन्यथा हि सर्वत्राप्यप्रमाणिकैव व्यवस्था भविष्यतीति किं प्रमाणैः कल्पितैरिति? तदर्थसिद्धये तर्हि विपर्ययाख्यं प्रमाणं कल्पनीयम्-- न चासावर्थोऽनर्थक्रियाकारी दर्शनजार्थक्रियाकारित्वात् चन्द्रादिवदिति। न, चन्द्रादिदर्शनवदवाध्यत्वप्रसंगात्। न च लोके शास्त्रे वा बाध्यमानस्य प्रमाणत्वं दृष्टमिति। अपि च यथाभूत एवार्थः प्रत्यक्षादिभिः प्रतीयते, तथाभूत एव भ्रान्तिज्ञानेपि प्रतिभाति, नालौकिकोऽन्यः, तेनायं भ्रमः स्मृतिविप्रमोष इत्युच्यते, दृष्टार्थानुकारित्वात्तदन्यस्मृतिवदित्यपरो मन्यते।''[41]

यहाँ स्मृतिविप्रमोष को स्पष्ट करने के लिये स्मृति पर किंचित् चर्चा अपेक्षित है। 'संस्कारमात्रजन्यं ज्ञानं' को स्मृति कहा गया है। यह पूर्वानुभव से उत्पन्न संस्कार से उत्पन्न होता है और इसके लिये उद्बोधक सामग्री यथा सादृश्य या अदृष्ट का सामिप्य आवश्यक होता है। कहा गया है कि 'सादृश्यादृष्टचिन्ताद्याः स्मृतिबीजस्यबोधकाः'। जिस किसी वस्तु को पहले कभी देखा हो, उसके सदृश वस्तु देखने पर, पूर्वदृष्ट वस्तु की स्मृति होती है। यहाँ अनुभवजन्य संस्कार का उद्बोधक 'सादृश्य' है। पुनः कभी किसी वस्तु का विस्मरण हो जाने से चिन्तन से उसका स्मरण होता है। यहाँ चिन्तन संस्कार का उद्बोधक है। भ्रम स्थल में चिन्तन से अनुभूत समस्त विषय का स्मरण नहीं होकर किंचित् स्मरण होता है, अर्थात् ''तत् रजतम्' के आकार में न होकर 'रजतमिदम्' के आकार में होता है और 'रजतमिदम्' आकारक स्मरण ही स्मृतिविप्रमोष कहलाता है।

उम्बेकभट्ट स्मृतिविप्रमोष की व्याख्या करने के लिये अख्यातिवाद को पूर्वपक्ष के रूप में प्रस्तुत करते हैं। पूर्वपक्ष के अनुसार शुक्तिका में रजत–ज्ञान प्रमाण नहीं है। भ्रम में 'रजतमिदं' का ज्ञान एक ज्ञान नहीं है क्योंकि एक ज्ञान होने के अपेक्षित कारणों का यहाँ अभाव है। इसे एक ज्ञान मानने से यह ज्ञान सत् अर्थ को अन्य प्रकार से बोध कराता है। अख्यातिवादी के अनुसार कारण दो प्रकारक कहे जा सकते हैं : अदुष्ट और दुष्ट। अदुष्ट कारण से अर्थ के साथ अविसंवादक ज्ञान की उत्पत्ति होती है, दुष्ट कारण से तो विपरीत कार्य की उत्पत्ति नहीं अपितु अपेक्षित कार्य की अनुत्पत्ति होती है। यवादि धान के अंकुर को जन्म देने हेतु समर्थ ही नहीं हैं क्योंकि यवादि यहाँ दुष्ट कारण हैं। इसीलिये अख्यातिवादी कहते हैं कि 'रजतमिदं' एक राश्यात्मक नहीं वल्कि दो राश्यात्मक ज्ञान है– 'इदं' का ज्ञान हमारे समक्ष अवस्थित अर्थ को ग्रहण करने वाला प्रत्यक्ष ज्ञान होता है, तथा 'रजत' अनुभूत का स्मरण होता है। विपर्यय दोनों ज्ञानों के विवेक (भेद) के अग्रहण से होता है। ''ननु नैव शुक्तिकायां रजतज्ञानं प्रमाणम्, न ह्येकमेवेदं विज्ञानमन्यथा सन्तमर्थमन्यथा बोधयति, तथाविधज्ञानोत्पत्तौ कारणाभावात्, अदुष्टादिकारणादविसंवादकं ज्ञानमुत्पद्यते, दुष्टाच्च कार्यानुत्पत्तिः, न तु विपरीतकार्योत्पत्तिः, न हि यवादयो दुष्टाः शाल्यंकुरप्रसवसमर्थतामश्नुवीरन्। तस्माद्विज्ञानद्वयमेतत्– 'इदम्' इति पुरोऽवस्थितार्थग्राहिप्रत्यक्षज्ञानम् 'रजतम्' इति चानुभूतस्मरणम्। अतश्चैतत्स्मरणमननुभूतस्येत्येतन्नोपपद्यते।''[42] अतः अख्यातिवादी कहते हैं कि 'रजतमिदम्' में अनुभूत रजत का ही स्मरण उपपादित होता है, अननुभूत का नहीं।

उम्बेकभट्ट उपर्युक्त पूर्व पक्ष को अविचारित ज्ञान का विलास कहते हैं। भ्रम स्थल में जब हम 'रजतमिदं' कहते हैं तो यहाँ रजत का अवभास अपरोक्षतया ही होता है, अनुभूततया नहीं। उम्बेक भट्ट कहते हैं कि अनुभवावस्था में अनुभूततया स्मरण होता है, विषयावस्था में नहीं। इसका तात्पर्य यह है कि जिस विषय का अनुभव हो रहा है अर्थात् जो अनुभूयमान है उसका स्मरण नहीं होता है, अपितु पूर्व में जिसका अनुभव हो चुका है उसका ही स्मरण होता है। अनुभूयमान का स्मरण हो तो धारावाहिज्ञान यथा 'अयं घटः', 'अयं घटः' के स्मरणत्व की समस्या उठ जाती है। स्मरण सदैव अनुभवावस्था में होता है और वह पूर्वानुभूत का ही होता है, लेकिन विषयावस्था में तो विषय का अनुभव हो रहा होता है। जिस प्रकार से रजत में अप्रतिपन्न रजत का आद्य रजत–ज्ञान स्मरण नहीं कहा जा सकता है, उस प्रकार से ही शुक्तिका में अप्रतिपन्न रजत का 'रजत' संज्ञा के संयोग से रहित 'रजत' शब्द के अर्थ का उत्पन्न प्रतिभासि ज्ञान स्मरण नहीं है। अतः स्पष्ट है कि भ्रम में 'रजतमिदं' की व्याख्या वक्ताओं ने विरोधी रूपों में किया है। भ्रम में प्रतिपन्न अपूर्व क्या है– शुक्तिका या रजत? यह नहीं जानते कि उससे क्या उत्पन्न होता है? उत्तर काल में कुछ लोग चाकचिक्यादि विषय को अंगुलि से निर्देश करते हुए 'इदं मया ज्ञातम्' कहते हैं तो प्रश्न उठता है कि यहाँ अपूर्व क्या है? ऐसा कहना कि 'शुक्तिका' है एक विवाद है क्योंकि कुछ लोग 'रजत' कहते हैं। और भी, भ्रम स्थल में दृश्य रजत में रजत से भिन्न कुछ अवभासित नहीं होता है। 'नेदं रजतम्' नामक बाधक प्रत्यय की उपपत्ति से भी प्रतिभास में कोई भिन्नता नहीं आती। वहाँ भी रजत का ही प्रतिभास होता है। मात्र सामग्री के स्तर पर विलक्षणता होती है। द्रष्टव्य है कि प्राभाकर के पक्ष में तो नेदं रजतम्' नामक बाधक प्रत्यय की उत्पत्ति ही नहीं होती है। भ्रम स्थल में तेजस्विता के फलस्वरूप जो अपरोक्ष वस्तु प्रतिभासित होता है वह रजत प्रतिभास नहीं है। परन्तु जो अनुभूत रजत की रूपता के कारण प्रतिभासित होता है, उस प्रतिभास का ज्ञान रजत ज्ञान है। यह बाधक प्रत्यय वस्तुतः रजत के अयुक्त का प्रतिषेध है, और ऐसा नहीं मानने से 'नेदं रजतम्' के स्थान पर 'नायमश्वः' भी होना चाहिये। उम्बेकभट्ट के शब्दों में– ''तदेतदपरामृष्टसंविद्विलसितम्। अपरोक्षतया ह्यत्र रजतमवभासते 'रजतमिदम्' इति, नानुभूततया अनुभववस्थायां चानुभूततया स्मरणं भवति, न विषयावस्थायाम्। एतदुक्तं भवति– अनुभूतस्य स्मरणं भवति, नानुभूयमानस्य, धाराविज्ञानानामपि स्मरणत्वप्रसंगात्। अप्रतिपन्नरजतस्यापि शुक्तिकायां

रजतशब्दार्थप्रतिभासिविज्ञानं संज्ञानुसंधानरहितमुत्पद्यत एव तत् कथं स्मरणम् यथा अप्रतिपन्नरजतस्य रजते रजतज्ञानमाद्यम्। तथा ह्येवं वक्तारो भवन्ति– अपूर्वं किमपि प्रतिपन्नम्, न जाने किमपि तदुत्पद्यत इति। क्वचिच्चोत्तरकालम्– इदं मया ज्ञातम्, अपूर्वं किमपीदम्, यावच्छुक्तिकेयम्– इति प्रवादः। क्वचित् कथयति–रजतमिदमुच्यत इति। अपि च रजते रजतान्न विशेषो दृश्येऽवभासते, बाधकप्रत्ययोत्पत्तावपि सामग्रीमात्रवैलक्षण्यावगतिः, न प्रतिभासे कश्चिद् विशेषः। भवत्पक्षे च 'नेदं रजतम्' इति बाधकप्रत्ययोत्पत्तिर्न प्राप्नोति, यदिदमपरोक्षं तेजस्वितया, नैतत् प्रतिभासितं रजतम्, यत्त्वनुभूतरजतरूपतया प्रतिभासितमिति मितम्, तद्ररजतमेव। अप्रसक्तप्रतिषेधश्चायम्, इतरथा 'नायमश्वः' इत्यपि स्यात्।''[43]

पुनः यह कहें कि 'नेदं रजतं' शुक्तिका और रजत में भेद का ग्राहक है, तो यह कथन भी उचित नहीं है क्योंकि भ्रम में अपरोक्ष वस्तु (शुक्तिका) की धर्मता से रजताभाव मात्र प्रतिभासित होता है। और भी यदि अनुभूततया रजत ही अवभासित होता है तो भेद क्या है? अब कहें कि अपरोक्ष रूप से शुक्ति ही रजत रूप में अवभासित होता है तो उससे अख्याति नहीं अपितु विपरीतख्याति का सिद्धांत ही दृढ़ होता है। यह कहें कि सादृश्य के दर्शन से यहाँ रजत का स्मरण हो रहा है, तो प्रश्न उठता है कि सादृश्याभाव में जिह्वा पर पित्त लेप के कारण तिक्त शंखादि में मधुर पीत ज्ञान का स्मरण कैसे होता है? यह कहना उचित नहीं कि तिक्त शंख में मधुर पीत ज्ञान का स्मरण तो विपरीतख्याति है, परन्तु शुक्तिका में रजत–ज्ञान स्मृतिविप्रमोष है। यहाँ स्वतः प्रामाण्य के अभाव का आक्षेप किया जा सकता है और इस आक्षेप का निराकरण नहीं होने की स्थिति में प्रतिभास अविशेषित होता है। अतः यह स्पष्ट नहीं है कि रजत प्रतिभासित हो रहा है, वा शुक्तिका के चाकचिक्यादि के कारण भ्रम रूपेण रजत प्रतिभासित हो रहा है। इस तरह प्रतिभास के अविशेषित होने से शुक्तिका में रजत की स्मृति का प्रमोष नहीं होता है। प्रभाकर का यह कथन कि 'रजतमिदं' के ज्ञान के कारण का अभाव होने से यह एक ज्ञान नहीं अपितु दो ज्ञान है, अनुचित है। यहाँ पर दो ज्ञानों की उपपत्ति नहीं होती है। उम्बेकभट्ट के अनुसार 'रजतमिदम्' नामक एक ज्ञान रूपी कार्य का ज्ञान हो रहा है तो उस कारण के विकल्प की आवश्यकता नहीं है। 'रजतमिदम्' रूपी कार्य के कारण का अभाव स्थापित नहीं किया जा सकता है। प्रभाकर यहाँ कह सकते हैं कि 'रजतमिदम्' नामक ज्ञान रूपी कार्य का ज्ञान नहीं होता है और फलतः कारण का अभाव सिद्ध होता है, न

कि कारण के अभाव से। और भी कि दोषपूर्ण चक्षुरिन्द्रिय नामक सहकारिकारण विपर्यय ज्ञान का उत्पादक होता है, और सम्यग् ज्ञान के अभिप्राय से वह दुष्ट कारण होता है। विपर्यय ज्ञान में तो दोषपूर्ण चक्षुरिन्द्रिय की ही कारणता होती है। इसीलिये यह कहना अनुचित है कि 'रजतमिदम्' नामक एक ज्ञान रूपी कार्य के कारण का अभाव है। ये सभी प्रमोष के पक्ष में भी समान हैं। उम्बेकभट्ट कहते हैं कि प्रभाकर का यह मत उनकी बुद्धि का विलास होने से उपेक्षणीय है कि जिसे अख्याति कहा जाता है वह स्मृतिविप्रमोष है। उम्बेकभट्ट के शब्दों में – "शुक्तिकारजतयोर्विवेकग्राहकमिदमिति चेन्न, अपरोक्षवस्तुधर्मतया रजताभावमात्रप्रतिभासनात्। अपि च, यदि तावदनुभूततयैव रजतमवभासितं तदा का विक्तिता? अथापरोक्षतया ततो विपरीतख्यातिः। भवतु वा सदृशदर्शनादत्र स्मरणमिति, तिक्तशंखादौ मधुरपीतज्ञानं कथं स्मृतिः? अथैवं जातीयके विपरीतख्यातिः, शुक्तिकादौ तु प्रमोषः, तदनुपपन्नम्, प्रतिभासाविशेषात्। स्वतः प्रामाण्यशून्यवादचोद्ये चापरिहृते एव। यत्तु कारणाभावान्नैकं विज्ञानम्, तदनुपपन्नम्, यदि कार्यमवगम्यते किं कारणविकल्पेन? कथं वा तदभावः? अथ नावगम्यते, अनवगमादेव तद्र्थभावः, न कारणाभावादिति। अपि च दोषसहकारिचक्षुरिन्द्रियं विपर्ययज्ञानोत्पादकम्, सम्यग्ज्ञानाभिप्रायेण दुष्टत्वम्, विपर्ययज्ञाने तु तत्कारणमेव, सर्वं चैतत् प्रमोषपक्षेऽपि समानमिति। तदेतदनुपासितगुरुप्रज्ञाविलसितत्वादुपेक्षणीयम्।"[44]

भासर्वज्ञ भी स्मृतिविप्रमोष का खंडन करते हुए कहते हैं कि भ्रमस्थल में स्मृतिविप्रमोष की उपपत्ति नहीं होती है। स्मृति की उपपत्ति संस्कार से होती है और वह अनुभव से अविशेषित होता है। फलतः स्मृति में 'रजतमिदम्' आकारक होने की योग्यता ही नहीं होती है और न स्मृति अन्य प्रत्यय से बाधित ही होता है। 'रजतमिदम्' नामक स्मृति 'नेदं रजतम्' नामक प्रत्यय से बाधित नहीं होता है। स्मृति में ज्ञाता को जिस प्रकारक अनुभव होता है उस प्रकारक अनुभव का विषय अज्ञात होने से 'रजतमिदम्' आकारक ज्ञान ही नहीं होता और न वह 'नेदं रजतम्' से बाधित ही होता है। "तदप्यनुपपन्नम्– न हि स्मृतिरिदं रजतमित्येवमाकारा भवितुमर्हति, अनुभवेनाविशेषप्रसंगात्। न च स्मृतिः प्रत्ययान्तरेण बाध्यते, यथानुभवावेदितार्थविषयत्वादिति।"[45] यह कहें कि यहाँ विप्रमुषितत्व होने से अर्थात् स्मृति का अपहृतत्व होने से 'रजतमिदम्' कहा जाता है तो प्रश्न उठता है कि यह विप्रमोष क्या है? "विप्रमुषितत्वादिति चेत्, कोऽयं विप्रमोषो नाम ?'[46]'

यदि मानसिक दोष के फलस्वरूप ज्ञाता के समक्ष उपस्थित अन्य वस्तु में रजत की स्मृति के उत्पाद को विप्रमोष कहें तो वह स्मृति असंभव है क्योंकि लेशतः भी अपूर्व के अंश के प्रतिभासित होने में प्रत्यभिज्ञान के तुल्य अस्मृतित्व की समस्या उठ जाती है। प्रत्यभिज्ञान में पूर्व देश और काल, तथा अपूर्व देश और काल दोनों की प्रतीति होती है। उदाहरण स्वरूप 'सोऽयं देवदत्तः (यह वह देवदत्त है)' में 'सः' पद 'तत्ता' अर्थात् पूर्व देश और काल के सम्बन्ध का बोधक है, और 'अयं' पद 'इदन्ता' अर्थात एतद्देश और एतत्काल के सम्बन्ध का बोधक है। इसमें 'तत्ता' रूप पूर्व देश और काल का द्योतक 'सः' अंश स्मरणात्मक है और उसकी उत्पत्ति पूर्वदर्शनजन्य संस्कार के उद्बोधन से होती है। इसके विपरीत 'अयं' पद से बोधित एतद्देश और एतत्काल रूप 'इदन्ता' अंश प्रत्यक्षात्मक है और उसकी उत्पत्ति इन्द्रिय और अर्थ के संयोग से होती है। इसीलिये भासर्वज्ञ कहते हैं कि विप्रमोष की व्याख्या में लेश मात्र भी अपूर्व का अंश प्रतिभासित होने से स्मृति का उत्पाद नहीं हो सकेगा और फलतः यह व्याख्या युक्ति संगत नहीं होगी। यदि यह कहें कि ज्ञाता के मानसिक दोष के फलस्वरूप अन्य विषय ही अपने विषय के आकार से अवभासित होता है तो स्मृति नामान्तर से यहाँ विपरीतख्यातिपरक होनी चाहिये। चूँकि यहाँ विषय से भिन्न कोई अन्य विपरीत विषय अपने आकार से अवभासित होता है इसीलिये स्मृति को यहाँ विपरीतख्याति ही चाहिये। इसके अतिरिक्त यह भी उल्लेखनीय है कि मानसिक दोष से ही नहीं, तिमिर और पीत दोष से भी भ्रान्ति की उत्पत्ति होती है। तिमिर दोष से सभी वस्तुयें काली और पीत दोष से सभी वस्तु पीली दिखाई देती हैं। अतः भासर्वज्ञ के अनुसार भ्रम में रजत का अवभास स्मृति नहीं है और इसलिए विप्रमोष की यह व्याख्या स्वीकार्य नहीं है। भासर्वज्ञ के अनुसार ''यदि मनोदोषादन्यविषय उत्पादः, सा स्मृतेरसम्भवीलेशतोपि ह्यपूर्वांशप्रतिभासित्वे प्रत्यभिज्ञानवदस्मृतित्वप्रसंगः स्यात्। यदि मनोदोषादन्यमेव विषयं स्वविषयाकारेणावभासयति स्मृतिस्तदा विपरीतख्यातिरेव संज्ञान्तरेणेष्टा स्यात्। न च मनोदोषादेव भ्रान्तिः, तिमिरादिदोषादप्युत्पत्तेः। अतोऽपि न स्मृतिरियम्।''[47]

अब यदि विप्रमोष का लक्षण करते हुए यह कहा जाय कि जिस भाँति हमारा अनुभव दुग्ध और जल के मिश्रण में दोनों में भेद नहीं कर पाता है, उसी भाँति भ्रम स्थल में शुक्तिका और रजत में भेद नहीं कर सकने वाले अनुभव से स्मृति का उत्पाद विप्रमोष कहलाता है। तो यहाँ प्रश्न उठता है

कि दुग्ध और जल के मिश्रण में यह अभेद (अविवेक) क्या है? यदि दो भिन्न सत्ताओं का अभेद रूप से ग्रहण ही अविवेक है तो भ्रम स्थल में विपरीतख्याति ही होनी चाहिये क्योंकि ज्ञाता को जिस अर्थ का ज्ञान होना चाहिये उससे विपरीत प्रतिभास होता है। अब भ्रम स्थल में शुक्तिका का अनुभव रूप ज्ञान और रजत के स्मरणात्मक ज्ञान का संयोगविशेष ही अविवेक है तो यह संयोग अनुभवात्मक और स्मरणात्मक ज्ञानों में संभव नहीं है क्योंकि संयोग दो द्रव्यों में ही होता है। इस प्रकारक अनुभव से अविवेक की व्याख्या और पुनः उससे विप्रमोष की व्याख्या संभव नहीं है। ''अथानुभवेन सह क्षीरोदकवदविवेकेन स्मृतेरूत्पादो विप्रमोष इत्युच्यते। कोऽयमविवेकः क्षीरोदकयोरपि? यदि भिन्नयोः सतोरभेदेन, तदा विपरीतख्यातिः स्यात्। अथ संश्लेषविशेषः, संज्ञानयोर्न संभवीति।''[48]

पुनः भ्रम स्थल में शुक्तिका का अनुभव और रजत के स्मरण के व्यवधान रहित आसन्नता के फलस्वरूप अविवेक का उत्पाद हो अर्थात् दोनों में भेद कर सकने में हम अक्षम हों और उससे विप्रमोष की व्याख्या करें तो 'देवदत्त' संज्ञा का संज्ञि 'देवदत्तविषय' के स्मरण से पश्चात्भावी अनुमेय रूप देवदत्तादि के ज्ञानों के स्मृतिविप्रमोषत्व की समस्या उठ जाती है। कहा भी गया है कि स्मृति और अनुभव में भेद के अग्रहण से उत्पन्न अख्याति ही स्मृतिविप्रमोष है। भ्रम स्थल में शुक्तिका और रजत में अभेद के ग्रहण से 'रजतमिदम्' व्यवहार होता है तो 'नेदं रजतम्' नामक उत्तर ज्ञान से दोनों में भेद ही करना चाहिये न कि रजत का बाध। भ्रम स्थल में 'नेदं रजतम्' नामक उत्तर ज्ञान दोनों भिन्न विषयों में भेद करते हुए उत्पन्न होता है और वह किसी का बाधक नहीं होता है। भासर्वज्ञ के अनुसार रजत का स्मरण और शुक्तिका के अनुभव में भेद के अग्रहण से स्मृति विप्रमोष को स्पष्ट करना अनुचित है क्योंकि भेद यहाँ प्रतीति का विरोधी है। प्रतीति के स्तर पर यहाँ भेद नहीं दिखाई देता है। भ्रम स्थल में जब रजत प्रतीत होता है तो 'रजतमिदम्' ही ही व्यवहार होता है, 'शुक्तिका' नहीं। इसीलिये कहा गया है कि भ्रम स्थल में भेद प्रतीति का विरोधी होता है। उदाहरण स्वरूप 'वह शुक्तिका रजत नहीं है' नामक प्रत्यय पूर्व अवगत 'वह रजत है' नामक प्रत्यय के बाध के रूप में उत्पादित होता हुआ अनुभव किया जाता है, न कि यह अनुभूत होता है कि शुक्तिका रजत–स्मरण है। भ्रम स्थल में 'रजतम्' और 'इदम्' के ज्ञान का समान विषयत्व होने से अनुभूयमान रजत के स्मृतित्व में शुक्तिका विशेष का अभाव होने से 'शुक्तिका' नामक ज्ञान के भी स्मृति होने

की समस्या उठ जाती है। अतः स्पष्ट है कि प्रतीयमान 'इदं' न रजत है और न शुक्तिका। भ्रम में विषय अनुपाख्य ही होता है, अर्थात् न रजत निरूपित होता है और न शुक्तिका। फलतः अविवेक (अभेद) की व्याख्या नहीं हो पाने से स्मृतिविप्रमोष की व्याख्या नहीं हो पाती है। इसके अतिरिक्त जिस भाँति भ्रम में अवभासित अर्थ से भिन्न अर्थ के प्रसंग में यह कहा जाता है कि वह जिस प्रकारक है उस प्रकारक अवमास से उत्पन्न ज्ञान भ्रम नहीं है, उसी तरह अति निरन्तरता के साथ उत्पन्न स्मृति और अनुभव–बुद्धि भी यदि यथावस्थित आकार के आधार पर अपने अर्थ को अवभासित करता है तो वहाँ भी भ्रम का व्यवहार नहीं होता है। अब यह कहें कि यथावस्थित आकार के आधार पर अर्थ स्वयं को अवभासित नहीं कर अन्यथा अवभासित होता है तो स्मृतिविप्रमोष नहीं बल्कि विपरीतख्याति ही मान्य करना होगा। भासर्वज्ञ के शब्दों में– "अथानन्तर्येणोत्पादः, तदानुमेयशब्दार्थदेवदत्तादिज्ञानानां स्मरणान्तरभाविनां स्मृतिविप्रमोषत्वप्रसंगः। यदप्युक्तं स्मृत्यनुभवयोर्विवेका–ग्रहणादख्यातिरेव स्मृतिविप्रमोषः। तत उत्तरं ज्ञानं तयोर्भिन्नविषययोर्विवेकं कुर्वदुत्पद्यते न बाधकं कस्यचिदिति। तदपि प्रतीतिविरोधान्न युक्तं। तथा हि–यत्तद्रजतमित्यवगतं पूर्वं तच्छुक्तिकाशकलं न रजतमित्येवं बाध उत्पद्यमानोऽनुभूयते, न तु रजतं स्मृतं शुक्तिकाशकलमिदमनुभूतमिति। रजतमितिज्ञानस्येदमिति ज्ञानसमानविषयत्वेना– नुमूयमानस्यापि स्मृतित्वे शुक्तिकेति ज्ञानस्यापि स्मृतित्वप्रसंगो विशेषाभावात्। ततश्चेदमिति प्रतीयमानं न रजतं न शुक्तिकेत्यनुपाख्यमेव प्राप्तं। न चैतदुपपन्नम्। किं चातिनिरन्तरोत्पन्नापि स्मृतिरनुभवबुद्धिश्च यदि यथावस्थिताकारेण स्वार्थमवमासयति,तदा कुतस्तत्र भ्रमव्यवहारः? तदन्ययथाव त्स्वार्थावभासिज्ञानवत्। अथान्यथावभासयति तदा विपरीतख्यातिरिति।"[49]

आत्मख्याति

बौद्धदर्शन के विभिन्न सम्प्रदायों में सत्ताविषयक मतभेद होने से ख्यातिविषयक मतभेद स्वाभाविक है। बौद्धदर्शन के चार मुख्य सम्प्रदाय हैं– वैभाषिक, सौत्रान्तिक, माध्यमिक तथा योगाचार विज्ञानवाद। इनमें से माध्यमिक शून्यवादी को छोड़कर अन्य तीनों भ्रमस्थल में आत्मख्याति ही मानते हैं। माध्यमिक असत्ख्याति मानते हैं जिसकी हम चर्चा कर चुके हैं। सौत्रान्तिक बाह्यार्थ की सत्ता को मानते हैं परंतु इसका ज्ञान अनुमान से होता है। उनके अनुसार चित्ताकार से ही बाह्यार्थ का अनुमान किया जाता है। बाह्यार्थ की सत्ता मानने से संसार में प्रतिभासित अर्थ सत् होता है। अन्तःस्थ विषय ही

बाह्यार्थ के रूप में अनुमित किया जाता है, फलतः भ्रमस्थल में आत्मख्याति ही होती है। वैभाषिक बाह्य और अन्तःस्थ दोनों की स्वलक्षण सत्ता को मानते हैं और बाह्यार्थ का ज्ञान इनके अनुसार प्रत्यक्ष से होता है। बाह्यप्रत्यक्षवादी होते हुए भी वैभाषिकों का ख्याति सिद्धांत क्षणभंगुरता के चलते आत्मख्याति में ही संग्रहित होता है। योगाचार के अनुसार अन्तःस्थ ज्ञान का विषय ही संसार में असत् रूपेण प्रतिभासित होता है। अतः भ्रम स्थल में वे आत्मख्याति को सर्वथा मान्य करते हैं। भ्रान्त पुरुष को 'आत्मा' अर्थात् 'ज्ञान' की ही पुरोवर्त्ती वस्तु में ख्याति होती है। वह अपने अन्तःस्थ ज्ञान को ही बाह्य जगत् में देखता है। शुक्तिका की चाकचिक्यादि देखकर अपने अन्तःस्थ सुप्त रजताकार के ज्ञान को ज्ञाता शुक्तिका पर आरोपित कर 'रजतमिदम्' से व्यक्त करता है। पहले कभी सत्य रजत को देख उसका संस्कार हृदयस्थ हो गया था और इस समय वही सुप्त संस्कार पुरोवर्ती शुक्तिका के चाकचिक्यादि देखने पर जागृत होकर ज्ञाता को रजत का स्मरण करा देता है। इस स्मरणात्मक ज्ञान के आकारभूत रजत का अनुभव 'रजतमिदम्' के रूप में होता है। यह अनुभव भ्रम है और एक ऐसी ख्याति है जो ज्ञान के आत्मभूत आकार को बाह्यार्थ के रूप में ग्रहण करता है, अतः इसे आत्मख्याति कहा गया है।

आत्मख्याति को मानने वाले बौद्धदर्शन के इन तीनों सम्प्रदायों के अनुसार अन्तःस्थ विज्ञान ही बाह्यार्थ रूप में प्रतिभासित होता है। तीनों में भेद यह है कि विज्ञानवादी बाह्य वस्तु को अध्यस्त मानते हैं, सौत्रान्तिक बाह्यार्थ को अनुमेय और वैभाषिक प्रत्यक्ष रूप से स्वीकार करते हैं। यहाँ आरोप्य ज्ञानाकार है और सबों में समान है। परन्तु तीनों सम्प्रदाय आरोप्य के अधिष्ठान में भेद करते हैं। सौत्रान्तिक तथा वैभाषिक बाह्यार्थ को सत् मानते हैं और वहीं ज्ञानाकार का आरोप करते हैं। यहाँ आरोप्य का अधिष्ठान बाह्य वस्तु है। परन्तु विज्ञानवादी बाह्यार्थ को असत् कहते हैं और अनादि अविद्या की वासना से आरोपित अलीक बाह्य वस्तु ही आरोप्य का अधिष्ठान होता है। ब्रह्मसूत्र के अध्यासभाष्य पर टीका करते हुए भामतीकार वाचस्पति लिखते हैं– ''सौत्रान्तिकनये तावद् बाह्यमस्ति वस्तुसत्तत्र ज्ञानाकारस्यारोपः। विज्ञा नवादिनामपि यद्यपि न बाह्यं वस्तुसत्तथाप्यनाद्यविद्यावासनारोपितमलीकं बाह्यं, तत्र ज्ञानाकारस्यारोपः।''[50] तात्पर्य यह है कि आत्मख्याति का मानक रूप विज्ञानवाद में ही प्राप्त होता है लेकिन वैभाषिक और सौत्रान्तिक क्षणभंगुर बाह्यार्थवादी होने के कारण इनके ख्याति सिद्धान्त का संग्रह भी आत्मख्याति में हो जाता है।

विज्ञानवाद के अनुसार बाह्यार्थ सत् नहीं है। परन्तु कुछ लोगों का कहना है कि बाह्यार्थ यथा रजत–विशेष या जल–विशेष को सत् नहीं मानने से रजत–विशेष या जल–विशेष के अभाव होने में रजत–ज्ञान वा जल–ज्ञान प्रकारक विशिष्ट व्यवहार युक्त नहीं होता है, अतः ज्ञानगत विशेष वा अर्थगत विशेष अवश्य मानना चाहिये। वहाँ रजतादि अर्थ के अविद्यमानत्व के कारण अनुपलम्भ रजत का विशेषकत्व अर्थात् रजत–ज्ञान नहीं होता है, और रजत–ज्ञान उसके सम्बन्धी के रूप में अवधारित नहीं होता है। निश्चय ही जो विशेष जिसके सम्बन्धी के रूप में अवधारित नहीं होता है, वह उसका विशेषक नहीं हो सकता है। इससे स्पष्ट है कि रजत को असत् मानने से रजत–ज्ञान को उसका विशेषक नहीं कह सकते हैं। स्मृति से उपस्थापित रजत–ज्ञान को पूर्वानुभव का ही विशेषक होना चाहिये, इस समय के अनुभव का नहीं, क्योंकि इस समय के अनुभव का रजत–ज्ञान रजत का असम्बन्धी है। इस प्रकार समस्या उठायी गयी है कि विज्ञानवाद में बाह्यार्थ असत् होने से रजत–विशेष या जल–विशेष अविद्यमान होता है, फलतः इस मत में रजत–ज्ञान या जल–ज्ञान होना संभव नहीं है। भासर्वज्ञ के अनुसार– ''अपरस्त्वाह रजतज्ञानं जलज्ञानम् इत्येवमादिविशिष्टव्यवहारो विशेषाभावे सति न युक्तः, तेनावश्यं ज्ञानगतोऽर्थगतो वा विशेषो वाच्यः। तत्र रजतादेरर्थस्याविद्यमानत्वे– नानुपलम्भाद्विशेषकत्वमयुक्तम्। न हि यो यस्य संबन्धित्वेन विशेषो नावधारितः, स तस्य विशेषको भवितुमर्हति, स्मृत्युपस्थापितोपि पूर्वानुभवस्यैव विशेषकः स्यात्, नेदानीन्तनस्य तदसंबन्धित्वात्।''[51]

उक्त समस्या के निदान के लिये यदि कहा जाय कि भ्रम स्थल में रजतादि की भ्रान्ति का विषय शुक्तिकादि ही है तो यह अनुचित है क्योंकि यहाँ रजतादि का प्रतिभास हो रहा है और इस कथन से रजतादि के प्रतिभास के अभाव की समस्या उठ जाती है। यह कहना कदापि उचित नहीं कि रूप विषयक ज्ञान रस का अवभास कराता है। इससे स्पष्ट है कि शुक्तिकादि विषय रजत–ज्ञान का अवभासी नहीं हो सकता और इसी को ध्यान में रखकर कहा गया है कि रजत–विशेष या जल–विशेष के अविद्यमानत्व में रजत–ज्ञान या जल–ज्ञान का अवभास नहीं हो सकता है। भासर्वज्ञ के अनुसार– ''अथ रजतादिभ्रान्तेः शुक्तिकादिरेव विषय इति, तदयुक्तम्, रजतादिप्रतिभासाभावप्रसंगात्। न हि रूपविषयं ज्ञानं रसमवभासयति।''[52] पुनः इस समस्या के समाधान के रूप में यदि यह कहा जाय कि रजतादि–ज्ञान का शुक्तिकादि विषय होने से ही भ्रान्ति होती है तो यह भी अनुचित है।

द्रष्टव्य है कि जब आलम्बन अन्य (शुक्तिका) और प्रतिभासित अन्य (रजत) होते हैं तो इससे ही भ्रान्ति होती है, परन्तु जिस ज्ञान में जो आलम्बन है वही प्रतिभासित होता है तो वह तत्त्वज्ञान ही कहलाता है। आत्मख्यातिवादियों का कथन कि भ्रान्ति में प्रतिभासित अन्य और आलम्बन अन्य होता है, यह अनुचित है। प्रतिभासमान अर्थ के व्यतिरेक होने से प्रतिभासमान अर्थ के ज्ञान का आलम्बन अन्य नहीं हो जाता है और वह अन्य आलम्बनार्थ क्रय किया हुआ नहीं होता जिससे यह कहा जा सके कि प्रतिभासित अन्य और आलम्बन अन्य होता है। यहाँ यह भी विचारणीय हो जाता है कि प्रतिभासमान अर्थ का आलम्बन किस प्रमाण से सिद्ध होता है? "अतएव भ्रान्तिरिति चेत–अथ मतं यत एवान्यदालम्बनमन्यच्च प्रतिभाति, अत एव भ्रान्तिरित्युच्यते। यस्मिंस्तु ज्ञाने तदेवालम्बनं तदेव च प्रतिभाति, तत्तत्वज्ञानमेवेति। तदिदमनुपपन्नम्, न हि प्रतिभासमानार्थव्यतिरेकेण ज्ञानस्यालम्बनार्थोऽन्यः क्रयक्रीतोऽस्ति। केन वा विशेषेण तस्या लम्बनत्वम्?"[53] भासर्वज्ञ के अनुसार इसके प्रति आत्मख्यातिवादियों का ऐसा उत्तर कदापि समीचीन नहीं हो सकता कि प्रतिभासमान 'रजत' का आलम्बन 'शुक्तिका' भ्रान्ति उत्पन्न करने की क्रिया का कर्मकारक होता है और उसके कर्मकारकत्व के आधार पर उस रजत–प्रतिभास का आलम्बनत्व सिद्ध होता है। भ्रम में शुक्तिका का प्रतिभास नहीं होता है और शुक्तिका की प्रतिभासमानता के बिना उसका जनकत्व विशेषित नहीं होता है, अतः जनकत्व से अविशिष्ट शुक्तिकादि का कर्मकारकत्व समझा नहीं जा सकता है। यह कथन कि उस देश में शुक्तिकादि के वर्तमान होने से उसका कर्मकारकत्व सिद्ध होता है, मान्य नहीं है, क्योंकि उस देश में वर्तमान तृणादि के भी कर्मकारकत्व की समस्या उठ जाती है। प्रतिभास के विना न मृगमरीचिका की ओर ही और न उस देश में अवस्थित तृणादि की ओर ही कर्मकारकत्व कहने की प्रवृत्ति होती है। अतः यह निश्चित है कि प्रतिभासमान 'रजत' का आलम्बन किसी भिन्न हेतु से सिद्ध करना होगा और वह कर्मकारकत्व के आधार पर सिद्ध नहीं किया जा सकता है, क्योंकि अतीत और अनागत अर्थ उस देश में विद्यमान नहीं होता है। अतः यह स्पष्ट नहीं हो पाता कि उन अर्थों के प्रतिभासिज्ञानों के प्रति किसका कर्मकारकत्व हो। इससे स्पष्ट है कि भ्रमस्थल में न ही वर्तमान का कर्मकारकत्व होता है, और न अतीत तथा अनागत अर्थ का जिससे कि प्रतिभासमान 'रजत' का आलम्बनत्व सिद्ध किया जा सके। भासर्वज्ञ के अनुसार– "यदि कर्मकारकत्वेन, तत्कर्मकारकत्वं जनकत्वेनाविशिष्टस्य प्रतिभासमानतामन्तरेण कथमवगन्तुं

पार्यते? तद्देशं प्रति वर्तमानत्वादिति चेत्, न, तद्देशवर्तिनस्तृणादेरपि कर्म कारक –त्वप्रसंगात्। न हि प्रतिभासमन्तरेण मरीच्याभिमुख एवायं प्रवृत्तो न तद्देशस्थतृणाद्यभिमुख इत्यत्र विशेषहेतुरस्ति। अपि चातीतानाग–तार्थप्रतिभासिज्ञानं प्रति कस्य कर्मकारकत्वम्, यदि तस्यैव, तत्राविद्यमानत्वात्।"[54] अब यदि यह कहें कि अतीत और अनागत अर्थ के प्रतिभासिज्ञानों के प्रति अन्य अर्थ का कर्मकारकत्व होता है और अन्य के कर्मकारकत्व के आधार पर उस प्रतिभासिज्ञान का आलम्बन सिद्ध होता है तो उस अन्य के ज्ञान के भ्रान्तत्व की समस्या उठ जाती है। इस प्रकार अतीत तथा अनागत अर्थ के ज्ञान का अभाव स्पष्ट होता है। इसीलिये योगाचार विज्ञानवादी कहते हैं कि जो ही प्रतिभासित होता है वही विषय आलम्बन है, और यदि इस आलम्बन को शुक्तिकादि विषय से विशेषित माना जाय तो भ्रान्त पुरूष के लिये वहाँ विज्ञानवादी के अनुसार भ्रम स्थल में 'रजत–ज्ञान', 'जल प्रतिभासिक ही नहीं हो सकेगा। ज्ञान' प्रकारक व्यवहार ही उचित है। इसीलिये भ्रम में रजताकार को ही रजत–प्रतिभास का आलम्बन समझना चाहिये, और वह रजताकार अनादि अविद्या के सामर्थ्य से बाह्यरूप में प्रतिभासित होता है। वह अनादि अविद्या की वासना फलवती होती है अर्थात् अनादि अविद्या की वासना से आरोपित अलीक बाह्य वस्तु ही आरोप्य का आलम्बन होता है। अपने आकार मात्र का अनुभव करने योग्य आकार ज्ञान अलीक बाह्य वस्तु में क्रम से आरोपित होता है और वही आकार प्रतिभासित होता है। इसीलिये भ्रम स्थल में आत्मख्याति ही सिद्ध है। "अथान्यस्य, तदा तज्ज्ञानस्य भ्रान्तत्व प्रसंगः। ततश्चातीताद्यर्थप्रतिपत्त्यभाव इति, तस्माद् यदेव प्रतिभाति तदेवावलम्बनं विषयश्चेत्युच्यते। न च शुक्तिकादिविषयविशेषितत्वेपि सति रजतं मे प्रतिभाति, रजतज्ञानमिदं जलज्ञानमित्येवमादिव्यवहारो युक्तः। तस्मादुपलम्भस्यैव रजताद्याकारोऽभ्युपगन्तव्यः। स चानाद्यविद्यो–पप्लवसामर्थ्याद्बहिरिव प्रतिभाति, अनादिविचित्रवासनाश्च क्रमविपाकवत्यः पुंसां सन्ति। तेनानेकाकाराणि विज्ञानानि स्वाकारमात्रसंवेद्यानि क्रमेण भवन्तीति तस्मादात्मख्यातिरेव सिद्धेति।"[55]

पुनः योगाचार विज्ञानवादी के अनुसार ज्ञान स्वसंवेद्य होता है। वह अन्य किसी के द्वारा नहीं जाना जाता है, और न ही किसी अन्य की अपेक्षा करता है। इसी को स्वात्मसंवित्ति (अर्थात् अपने प्रसंग में अपने द्वारा ज्ञान) कहते हैं। भासर्वज्ञ के अनुसार ज्ञान के स्वात्मसंवित्तिनिष्ठत्व में और अर्थाकारत्व में आत्मख्याति सिद्ध होना चाहिये। परन्तु भासर्वज्ञ इन दोनों का निराकरण

कर आत्मख्याति का प्रत्याख्यान करते हैं। भासर्वज्ञ कहते हैं कि सभी ज्ञानों के उनके अपने आकारग्राहित्व का लक्षण (आकार को ग्रहण करने का लक्षण) स्पष्ट नहीं होने से उनके अपने आकार का ग्रहण नहीं हो पाता है, फलतः उनके अपने आकार के व्यभिचार का अभाव होता है। इससे भ्रान्त–अभ्रान्त के भेद तथा बाध्य–बाधक भाव की प्राप्ति नहीं होती है। भासर्वज्ञ कहते हैं कि (रजत) ज्ञान के स्व में स्थित रजताकार ही संवेदित होता है तो जिस तरह सुखाकार बाह्यतया प्रतीत नहीं होता उसी भाँति रजताकार भी बाह्य प्रतीत नहीं होना चाहिये। पुनः आकार को ग्रहण करने का लक्षण स्पष्ट नहीं होने से आकार अस्थिर होता है, फलतः वह ज्ञाता की प्रवृत्ति का विषय नहीं होता है। अतः ज्ञाता को भी आकार–ज्ञान प्राप्त करने हेतु प्रवृत्त नहीं होना चाहिये। अब आत्मख्यातिवादी कहें कि अविद्या के बल से बाह्य में आकार के स्थिरत्व का बोध होता है तो इस प्रकार निश्चय ही विपरीतख्याति इष्ट है। ज्ञाता को अस्थिर आकार का बोध होता है, इसलिये इस बोध से अभिन्न अस्थिर अर्थाकार का अन्यथा (= स्थिर अर्थाकार) बोध होने से विपरीतख्याति होती है न कि आत्मख्याति। ''नैतदपि युक्तम्, स्वात्मसंवित्तिनिष्ठत्वे अर्थाकारत्वे च हि ज्ञानस्यात्मख्यातिः सिध्येत। तदुभयमप्युत्तरत्र निराकरिष्यामः। किं च सर्वज्ञानानां स्वात्माकारग्राहित्वाविशेषे भ्रान्ताभ्रान्तविवेको बाध्य– बाधकभावश्च न प्राप्नोति, स्वात्माकारव्यभिचाराभावादिति। यदि च ज्ञानात्मनि स्थित एव रजताद्याकारः संवेद्यते, तदा सुखाद्याकारवन्न बहिष्ठः प्रतीयेत। प्रतिपत्ताऽपि तदुपादानार्थं न प्रवर्तेत, अस्थिरत्वेन प्रवृत्त्यविषयत्वादिति। अथाविद्योपप्लववशाद्बहिष्ठस्थिरत्वाध्यवसाय इति मन्यसे। नन्वेवं तर्हि विपरीतख्यातिरेवेष्टा भवति। बोधाभिन्नस्या स्थिरस्यार्थाकारस्यान्य–थाध्यवसायाभ्युपगमादिति।''[56]

अनिर्वचनीयख्याति

शांकर वेदान्त में ब्रह्म ही अद्वितीय सत्य है और ब्रह्म के अतिरिक्त सब कुछ अध्यस्त, कल्पित और भ्रान्त हैं। इस सिद्धान्त के अनुरोध से तथा अन्य ख्यातियों में दोष के कारण अद्वैत वेदान्त में अनिर्वचनीय ख्याति को माना गया है। भ्रम स्थल में 'रजतमिदम्' नामक ज्ञान अनिर्वचनीय है क्योंकि वह सदसत् से विलक्षण है। जो वस्तु 'सत्' या 'असत्' रूप से निर्वाच्य नहीं हो वही अनिर्वाच्य कहलाता है। ''प्रत्येकं सदसत्त्वाभ्यां विचारपदवीं न यत् गाहते तदनिर्वाच्यमाहुर्वेदान्तवादिनः''[57]। रजत प्रतीति को सत् नहीं कह सकते क्योंकि अधिष्ठान का ज्ञान होते ही रजत–प्रतीति का होना समाप्त हो

जाता है, और इसे 'असत्' भी नहीं कह सकते क्योंकि रजत की प्रतीति हो रही है और उसे उठाने की प्रवृत्ति भी हो रही है। यदि सत् होता तो उत्तर काल में बाध नहीं होता, और यदि 'असत्' होता तो प्रतिभासित ही नहीं होता क्योंकि 'असत्' का प्रतिमास संभव नहीं। रजत–प्रतिभास के उत्तरकाल में बाध के पश्चात् यह अनुभव होता है कि मिथ्या रजत भासित हुआ था। यही भ्रम के अनिवर्चनीयत्व का प्रमाण है। जिस प्रकार अविद्या के कारण ब्रह्म घट–पटादि के रूप में प्रतीत होता है, उसी प्रकार चाकचिक्यादि के कारण शुक्तिका रजत के रूप में प्रतीत होती है।

भासर्वज्ञ अद्वैत के मत को उपस्थापित कर पुनः उसका प्रत्याख्यान करते हैं। अद्वैत में ज्ञान का विषय उपदेशगम्य (निरूपण से जानने योग्य) व अनुमान साध्य नहीं होता है जिससे कि विपरीत (अन्यथा) अर्थ की कल्पना की जाय। जो जिस ज्ञान में प्रतिभासित होता है वह उस ज्ञान का विषय कहा जाता है। जलादि के ज्ञान में जलादि अर्थ ही प्रतिभासित होता है, उसका विपरीत अर्थ नहीं, क्योंकि विपरीत अर्थ के प्रतिभासित होने से जलादि के ज्ञान के निरूपण के अभाव की समस्या उठ जाती है। भ्रम में प्रतिभासित जलादि अर्थ सत् नहीं है, क्योंकि उसे सत् मानने से जलादि अर्थ के ज्ञान के अभ्रान्तत्व की समस्या उठ जायेगी। वह जलादि अर्थ असत् भी नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि असत् कहने से आकाश–कुसुम के तुल्य उस जलादि अर्थ के प्रतिभास में प्रवृत्ति को लेकर अविषयत्व की समस्या उठ जाती है। उस जलादि अर्थ को सदसदात्मक भी नहीं कहा सकता है, क्योंकि इस विकल्प में उसमें दोनों का दोष आ जाता है और दोनों को एक विषय में होना विरोधात्मक है। दिगम्बर जैन के अनुसार भी सभी ज्ञानों के सदसदात्मक अर्थ का प्रतिभासित्व अविशेषित होने से भ्रान्त–अभ्रान्त व्यवस्था की उपपत्ति नहीं हो पाती है, क्योंकि भ्रान्त–अभ्रान्त की व्यवस्था की उपपत्ति अर्थ के प्रतिभास के विशेषित हुए बिना नहीं होती है। इसीलिये उनका कथन है कि बुद्धि द्वारा अवलोकित यह अर्थ न सत्त्व रूप से, और असत्त्व रूप से, व न अन्य धर्म के रूप में व्यक्त किया जा सकता है। अतएव अद्वैतवेदान्त में इस विकल्प का अवसर नहीं है कि ब्रह्म से अविद्या भिन्न है वा अभिन्न। निश्चय ही अविद्या परमार्थ रूप से किसी भी प्रकार से निर्वचनीय नहीं है। हम यह भी नहीं कह सकते कि भ्रम में प्रतिभासित रजत, वास्तविक रजत से भिन्न है वा अभिन्न। यदि उसे निर्वचनीय कहें तो उसे तत्त्व कहना होगा

न कि अविद्या। सभी के द्वारा अविद्या अतत्त्वरूपा ही मानी जाती है और वह अनिर्वचनीया ही होती है। इसीसे भ्रमस्थल में अनिर्वचनीयख्याति सिद्ध होता है। भासर्वज्ञ के शब्दों में – ''अन्यस्त्वाह– न ज्ञानस्य विषय उपदेशगम्योऽनुमानसाध्यो वा, येन विपरीतोऽर्थः कल्प्येत। किं तर्हि? यो यस्मिन् ज्ञाने च भाति, स तस्य विषय इत्युच्यते। जलादिज्ञाने च जलाद्यर्थ एव प्रतिभाति, न तद्विपरीतः, जला –दिज्ञानव्यपदेशाभावप्रसंगात्। स जलादिरर्थः सन्न भवति, तद्बुद्धेरभ्रान्तत्वप्रसंगात्। नाप्यसन्, खपुष्पादिवत् प्रतिभास – प्रवृत्त्योरविषयत्वप्रसंगात्। नापि सदसदात्मकः, उभयदोषात्, सदसतोरैकात्म्यविरोधाच्च। दिगम्बरमतेनापि सर्वज्ञानानां सद–सदात्मकार्थप्रतिभासित्वाविशेषाद् भ्रान्ताभ्रान्तव्यवस्थानुपपत्तिः, तस्मादयं बुद्धिसंदर्शितोऽर्थः सत्त्वेनासत्त्वेनान्येन वा धर्मान्तरेण निर्वक्तुं न शक्यते इति। अत एवाविद्या ब्रह्मणः किं भिन्नाथाभिन्नेत्यादिविकल्पो निरवकाशः। कस्मात्? नह्यविद्या परमार्थतः केनापि रूपेण निर्वचनीया। यदि निर्वचनीया स्यात्, ततस्तत्त्वमेव स्यात् नाविद्येति। अतत्त्वरूपा ह्यविद्या सर्वैरिष्टा तस्मादनिर्वचनीयार्थख्यातिः सिद्धेति।''[58]

अब भासर्वज्ञ अनिर्वचनीयख्याति का प्रत्याख्यान कर अन्यथाख्याति की स्थापना करते हैं। किसी वस्तु का किसी अन्य वस्तु के रूप में प्रतिभासित होना ही अन्यथाख्याति कहलाता है। यह एक अलौकिक प्रत्यक्ष है और यहाँ चक्षुरिन्द्रिय क साथ संयुक्त–समवाय–सन्निकर्ष नहीं होता है। लौकिक प्रत्यक्ष में ही संयुक्त–समवाय सन्निकर्ष होता है। धर्मी में किसी अन्य धर्म का प्रत्यक्ष होने में यदि कोई प्रतिबन्धक नहीं होता है तो उस धर्म का अलौकिक प्रत्यक्ष होता है। इसीलिये शुक्तिका में रजतत्व की प्रतीति तथा रज्जु में सर्पत्व की प्रत्यक्ष–प्रतीति अलौकिक प्रत्यक्ष है, और वही अन्यथाख्याति कहलाता है। यह ख्याति विषयमूलक नहीं अपितु विषयिमूलक होता है। शुक्तिका अपने स्थान पर शुक्तिका ही रहती है परन्तु इन्द्रिय दोष के फलस्वरूप शुक्तिका में रजत के धर्म की प्रतीति होती है। पूर्व दृष्ट रजत की अनुभूति के बल से उसका अलौकिक प्रत्यक्ष होता है और उसके गुणों का आरोप पुरोवर्ती शुक्तिका में करते हैं जिससे रजत के गुणों की प्रतीति होती है। इसीलिये नैयायिक कहते हैं कि अन्यथाख्याति में अर्थ का व्यभिचार नहीं अपितु ज्ञान का व्यभिचार होता है। उद्योतकर के शब्दों में – ''अतस्मिन् तदिति भावादिति ज्ञानस्य व्यभिचारः नार्थस्य।''[59]

यद्यपि अद्वैत की सिद्धि में अनिर्वचनीयख्याति सहायक सिद्ध होती है, तथापि अनिर्वचनीयख्याति के प्रत्याख्यान के लिये भासर्वज्ञ अद्वैत मत का निराकरण करते हैं। अद्वैतवेदान्ती का मत कि ज्ञान का विषय निरूपण से या अनुमान से सिद्ध नहीं होता, यह अनुचित है क्योंकि उनको भी ज्ञान का विषय निरूपण से ही प्राप्त होता है। भ्रान्ति स्थल में जो प्रतिभासित होता है वह सत् न हो और निरूपण योग्य भी न हो तो उसका प्रतिभास ही संभव कैसे है ? उदाहरणस्वरूप मृगमरीचिका में जल की भ्रान्ति में जल के सत् होने से ही नियत देश–काल के स्वभाव से विशेषित जलादि अर्थ प्रतिभासित होते हैं। चूँकि जल को ग्रहण करने की इच्छा की प्रवृत्ति का दर्शन वहीं होता है जहाँ वह प्रतिभासित होता है, अतः स्पष्ट है कि मृगमरीचिका में प्रतिभासित जल नियत देश–काल के स्वभाव से विशेषित है। भासर्वज्ञ के अनुसार मृगमरीचिका में प्रतिभासित जलादि अर्थ अनिर्वचनीय नहीं होना चाहिये क्योंकि इस प्रकारक अनिर्वचनीय अर्थ में प्रतिभास के आधार पर जल को ग्रहण करने की इच्छा की प्रवृत्ति संभव नहीं होती है। ''एतदप्ययुक्तम्– अद्वैतसिद्धौ तत्सिध्यति, तच्चाद्वैतं निराकरिष्यामः। यच्चोक्तं न विज्ञानस्य विषय उपदेशगम्य इत्यादि, ननु भवतामेवोपदेशगम्यः प्राप्तः। तथाहि– जलादिभ्रान्तौ नियतदेशकालस्वभावः सदात्मकत्वेनैव जलादिरर्थः प्रतिभाति, तद्ग्रहणेप्सोस्तत्रैव प्रवृत्तिदर्शनात्। कथमसावनिर्वचनीयः स्यात्? न ह्येवंभूते प्रतिभासप्रवृत्ती अनिर्वचनीयेऽर्थे सम्भवत इति।''[60] अब यदि यह कहा जाय कि विचार्यमाण सत्ता सदसत्त्व होने से ही अनिर्वचनीय रूप में संपादित होती है, परन्तु भ्रान्तिकाल में अनिर्वचनीय रूप से प्रतिभासित नहीं होती है, तो भासर्वज्ञ कहते हैं कि इस प्रकार अन्यथा प्रतिभास होने से विपरीत ख्याति (अन्यथाख्याति) ही सिद्ध होगी, अनिर्वचनीयख्याति नहीं। अद्वैतवेदान्त के अनुसार यहाँ विपरीतख्याति कहने से प्रतिभास का विरोध हो जाता है। यह कहना कि प्रतिभास रजत का होता है और वस्तु अन्य है तो यह कथन प्रतिभास का विरोधी है। किसी वस्तु का किसी अन्य वस्तु के रूप में प्रतिभासित होना विपरीतख्याति (अन्यथाख्याति) कहलाता है, अतः अद्वैत वेदान्त के मत में अन्यथाख्याति प्रतिभास के विरोधी होने से स्वीकार्य नहीं है। भासर्वज्ञ के अनुसार वेदान्ती का आक्षेप उनके अभिप्राय की अज्ञानता का फल है। यह अभिप्राय नहीं है कि भ्रमस्थल में प्रतिभासित अर्थ विचार्यमाण अर्थ के विपरीत होती है और इस प्रकार विपरीतख्याति होता है। भासर्वज्ञ के अनुसार भ्रमस्थल में पुरुष को विपरीत वस्तु स्थाणु में 'यह पुरुष है' नामक ख्याति होती है जो स्थाणु से अन्य है, अतः यह ख्याति विपरीतख्याति या

अन्यथा ख्याति कहलाती है।" अथ विचार्यमाण एवासौ सदसत्त्वादिभिरनिर्वचनीयः संपद्यते, न तु भ्रान्तिकाले तथा प्रतिभातीति। एवं तर्हि अन्यथाप्रतिभासा–द्विपरीतख्यातिरेवेति। ननु च विपरीतख्यातिरपि प्रतिभासविरोधान्न युक्तेति, न, अभिप्रायापरिज्ञानात्। न ब्रूमो विपरीतोऽयमर्थ इत्येवं ख्यातिः, किं तर्हि? पुरुषविपरीते स्थाणौ पुरुषोऽयमितिख्यातिर्विपरीत –ख्यातिरित्युच्यते।"[61]

यहाँ अद्वैतवेदान्ती आक्षेप कर सकते हैं कि भ्रमस्थल में पुरुषावभासि–ज्ञान में अप्रतिभासमान स्थाणु का विषयत्व कहना अनुचित है क्योंकि अवभास पुरुष को होने में तथा विषय स्थाणु होने में सर्वत्र अव्यवस्था की समस्या उठ जायेगी। भासर्वज्ञ के अनुसार यहाँ अव्यवस्था की समस्या नहीं उठती है। उनका कहना है कि 'यह पुरुष है' नामक ज्ञान में स्थाणु ही प्रतिभासित होता है, पुरुष नहीं। स्थाणु के प्रतिभासित होने से ही भ्रम स्थल में यह पुरुषावभासि–ज्ञान भ्रम है। उदाहरण स्वरूप 'यह पुरुष है' नामक ख्याति का बाध 'यह पुरुष नहीं है' नामक ज्ञान के पश्चात् भ्रान्त पुरुष कहते हैं कि यह स्थाणु मेरे लिये पुरुष प्रकारक प्रतिभासित हुआ था, और द्रव्य बुद्धि से किसी अपद्रव्य का ग्रहण किया गया था। अर्थात् द्रव्यबुद्धि से स्थाणु नामक द्रव्य 'पुरुष' प्रकारक अपद्रव्य के रूप में देखा गया था। अतः उस अपद्रव्य का ग्रहण भी विपरीतख्याति (अन्यथाख्याति) में ही नियोजित होता है। और इस प्रकार से भ्रान्त पुरुष शुक्तिका को हाथ से ग्रहण करके अन्य को कहता है कि मैने यह सुवर्ण या रजत लाभ किया है या क्रय किया है तो इस प्रकारक ख्याति विपरीतख्याति या अन्यथाख्याति ही कहलाती है। अतः भासर्वज्ञ के अनुसार यह कहना उचित है कि स्थाणु में भ्रान्त पुरुष को तत्त्व (स्थाणु) के अग्रहण से और स्थाणु का जो धर्म नहीं है उस अधर्म के बल से स्थाणु पुरुषाकारेण जाना जाता है। यही अनिर्वचनीय ख्याति की समीक्षा से निकला हुआ भासर्वज्ञ सम्मत अन्यथा ख्याति का परिष्कृत है। "ननु च पुरुषावभासिनि ज्ञाने स्थाणोरप्रतिभासमानस्य विषयत्वमयुक्तं सर्वत्राप्यव्यवस्था प्रसंगादिति। नैतदस्ति स्थाणुरेव हि पुरुषोऽयमित्येतस्मिन् ज्ञाने प्रतिभाति, न पुरुषः, पुरुषावभासिज्ञानमित्येतदित्ययमपि भ्रमः स्थाणुप्रतिभासित्वात्। तथाहि– बाधोत्तरकालं प्रतिसंधत्ते– स्थाणुरयं मे पुरुष इत्येवं प्रतिभास इति। द्रव्यबुद्धया च केषांचिदपद्रव्यग्रहणं दृष्टं, तदपि विपरीतख्यातावेव युज्यते। तथा च हस्तेन गृहीत्वान्येषामपि कथयति– मयेदं सुवर्णं रजतं वा लब्धं क्रीतं वेति। तस्मात्स्थाण्वादिरेव तत्त्वस्याग्रहणादधर्मादिवशाच्च पुरुषाद्याकारेणाध्यवसीयते इति युक्तम्।"[62]

इस प्रकार भासर्वज्ञ सम्मत उपर्युक्त विपयर्य मीमांसा के आधार पर कहा जा सकता है कि उन्होंने भारतीय दर्शन में ख्यातिवाद की समस्या को एक नवीन अवधारणात्मक योजना में निरूपित किया है। उनके द्वारा उठायी गयी समस्यायें या प्रस्तुत तर्क परंपरागत नहीं हैं। उदाहरण स्वरूप स्वप्नज्ञान जिसे वैशेषिक अविद्या की एक स्वतंत्र कोटि मानते हैं उसे भासर्वज्ञ विपर्यय या संशय में अन्तर्भूत कर अविद्या के मात्र तीन प्रकार–संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय– मानते हैं। सामान्य रूप से विपर्यय का वर्गीकरण विषय के आधार पर ही किया गया है, परन्तु भासर्वज्ञ विपर्यय का वर्गीकरण विषय के आधार पर तो करते ही हैं साथ–साथ निमित्त के आधार पर भी करते हैं। विषय के आधार पर ख्यातिपञ्चक ही प्रसिद्ध है, परन्तु भासर्वज्ञ प्रसिद्धार्थख्याति, अलौकिकार्थख्याति तथा स्मृतिविप्रमोष को नियोजित कर ख्याति की संख्या पाँच से बढ़ाकर आठ कर देते हैं। इसके अतिरिक्त भासर्वज्ञ पर जैन–न्याय तथा उम्बेकभट्ट का प्रभाव भी स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है। इस प्रकार अष्टविध ख्याति–सिद्धान्तों की व्यापक अवधारणात्मक योजना में 'अन्यथाख्याति' को केन्द्र में रखकर भासर्वज्ञ ने जो ख्यातिवाद की समीक्षा की है उससे अन्यथाख्याति के विषयमूलक और विषयीमूलक दोनों ही पक्ष अपने पूरे सौष्ठव के साथ उपस्थापित होते हैं। प्राचीन न्याय में अन्यथाख्याति की विषयमूलक व्याख्या का प्राधान्य स्पष्ट रूप से देखने को मिलता है लेकिन भासर्वज्ञ ने उसकी विषयीमूलक व्याख्या भी की है और ऐसा करते हुए भी वे 'आत्मनिष्ठता' का अपवारण करते हुए अन्यथाख्याति की सर्वतंत्र स्वतंत्र व्याख्या करने में पूर्णतया सफल रहे हैं।

शैक्षणिक केन्द्र, आई.सी.पी.आर.
3/9, विपुलखंड, गोमतीनगर
लखनऊ - 226010

सन्दर्भ एवं पाद टिप्पणियाँ –

1. *न्यायसारः सभूषणः, भासर्वज्ञ, स्वामी योगीन्द्रानन्द (संपा), चौखम्बा, 1968, पृ. 11*
2. *चतुर्दशख्यातिविवेक, डॉ. मुरलीधर पाण्डेय, शैलेश प्रकाशन, इलाहाबाद, 1996*
3. *वादत्रयी, डॉ. बच्चूलाल अवस्थी, कालिदास अकादेमी, उज्जैन, 1996*
4. *न्यायभूषणम्, भासर्वज्ञ, स्वामी योगीन्द्रानन्द (संपा), चौखम्बा, 1968 पृ. 25*
5. *प्रशस्तपादभाष्यम्, बिंध्येश्वरी प्रसाद द्विवेदी (संपा), श्री सत्गुरूप्रकाशन, दिल्ली, पृ. 183*

6. न्यायभूषणम्, भासर्वज्ञ, स्वामी योगीन्द्रानन्द (संपाद), चौखम्बा, 1968 पृ. 25
7. वही, पृ. 25
8. वही, पृ. 26
9. वही, पृ. 26
10. न्यायमञ्जरी (प्रथमो भागः), जयन्तभट्ट, श्री गौरीनाथ शास्त्री (संपा), सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी 1983, पृ. 251
11. न्यायभाष्यवार्त्तिकतात्पर्यटीका, वाचस्पति, अनन्तलाल ठक्कुर (संपा), भारतीय दार्शनिक अनुसंधान परिषद्, नई दिल्ली, पृ. 66
12. प्रकरणपञ्चिका, शालिकनाथ मिश्र, ए.सुब्रमण्यमशास्त्री, बनारस हिन्दूविश्वविद्यालय, वाराणसी, 1961, पृ. 43
13. वही, पृ. 48
14. वही, पृ. 58
15. पही, पृ. 49
16. वही, पृ. 49
17. न्यायभूषणमृ, भासर्वज्ञ, स्वामी योगिन्द्रानन्द (संप.), चौखम्बा, 1968, पृ. 26
18. वही, पृ. 26
19. वही, पृ. 26
20. वही, पृ. 26
21. मूलमाध्यमिक कारिका, नागार्जुन, डेविड जे कालुपहन (आंग्ल अनुवाद), मोतीलाल बनारसीदास (दिल्ली) पृ. 339
22. वही, 101
23. वही, पृ.
24. वही, 105
25. ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्यम् (भामतीटीका सहित), स्वामी योगीन्द्रानन्द (संप), चौखम्बा, पृ. 2
26. वही, पृ. 22
27. न्यायभाष्यवार्तिकतात्पर्यटीका, वाचस्पति, अनन्तलाल ठक्कुर (संप), भारतीय दार्शनिक अनुसंधान परिषद्, नई दिल्ली, पृ. 67
28. स्याद्वादरत्नाकर, चौखम्बा, पृ. 125
29. न्यायभूषणम्, भासर्वज्ञ, स्वामी योगिन्द्रानन्द (संप), चौखम्बा, 1968, पृ. 26
30. वही, पृ. 26
31. न्यायमञ्जरी (प्रथमो भाग), जयन्तभट्ट, गौरीनाथ शास्त्री (संपा), सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, 1983, पृ. 253
32. न्यायभूषणम्, भासर्वज्ञ, स्वामी योगिन्द्रानन्द (संप), चौखम्बा, 1968, पृ. 27
33. स्याद्वादरत्नाकर, चौखम्बा, पृ. 126
34. न्यायभूषण, भासर्वज्ञ, स्वामी योगीन्द्रानन्द (संप) चोखम्बा, 1968, पृ. 26–28
35. श्लोकवार्तिकव्याख्यातात्पर्यटीका, उम्बेकभट्ट, एस.के.रमानाथ शास्त्री (संपा. मद्रास विश्वविद्यालय) 1940, पृ. 52

36. वही, पृ. 52
37. वही, पृ. 52
38. वही, पृ. 52
39. वही, पृ. 52–53
40. वही, पृ. 53
41. न्यायभूषणम्, भासर्वज्ञ, स्वामी योगिन्द्रानन्द (संप), चोखम्बा, 1968, पृ. 28
42. श्लोकवार्तिकव्याख्यातात्पर्यटीका, उम्बेकभट्ट, – पृ. 51
43. वही, पृ. 51
44. वही, पृ. 51–52
45. न्यायभूषणमृ, भासर्वज्ञ, स्वामी योगीन्द्रानन्द (संप), चौखम्बा, 1968, पृ. 28–29
46. वही, पृ. 29
47. वही, पृ. 29
48. वही, पृ. 29
49. वही, पृ. 29
50. भामती संवलित ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्यम्, स्वामी योगीन्द्रानन्द (संपा), चौखम्बा, पृ. 25
51. न्यायभूषणम्, भासर्वज्ञ, स्वामी योगीन्द्रानन्द (संप), चौखम्बा, 1968, पृ. 28–30
52. वही, पृ. 30
53. वही, पृ. 30
54. वही, पृ. 30
55. वही, पृ. 30
56. वही, पृ. 30–31
57. न्यायकोश, पृ. 21
58. न्यायभूषणम्, भासर्वज्ञ, स्वामी योगीन्द्रानन्द (संप), चौखम्बा, 1968, पृ. 31
59. न्यायभाष्यवार्त्तिकम्, उद्योतकर, अनन्तलाल ठक्कुर (सपा). भारतीय दार्शनिक अनुसंधान परिषद्, नईदिल्ली 1/1/4
60. न्यायभूषणम्, भासर्वज्ञ, स्वामी योगीन्द्रानन्द (संप), चौखम्बा, 1968, पृ. 31–32
61. वही, पृ. 32
62. वही, पृ. 32

श्री अरविन्द का 'सिंथेसिस ऑफ योग': एक पुनरावलोकन

रमेशचन्द्र शाह

क्या आपने कभी कोई ऐसी किताब पढ़ी है जिसे पढ़ना आपके साथ कोई घटना घट जाने जैसा अनुभव हो, जिसे पढ़ने के बाद आप वही नहीं रहते जो उसे पढ़ने से पहले यानी, इस घटना के घट जाने से पहले थे। मेरे साथ कभी ऐसी ही घटना घटी थी और उस किताब का नाम है 'द सिंथेसिस ऑफ योग'। 'योग–संश्लेषण, अर्थात् 'पूर्णयोग'। लेखक श्री अरविन्द।

'द सिंथेसिस ऑफ योग' का प्रारम्भ एक पाँच खंडों की विस्तृत भूमिका से होता है। पहला खंड है, 'जीवन और योग,' दूसरा– प्रकृति के तीन सोपान–क्रम, तीसरा–त्रिआयामी जीवन, चौथा, योग की परम्परागत प्रणालियाँ और पाँचवां खंड है– 'संश्लेषण' अर्थात् सभी प्रणालियों की विशेषताओं का समन्वय–संश्लेषण। ऐसा संश्लेषण, जिसमें सब पद्धतियों में जो अधूरेपन की एकांगिता अनिवार्यतः आ ही गई है, उन सबका परिहार हो जाता है। यही पूर्णयोग होने का दावा कर सकता है क्योंकि अपने–आप में यह परम्परा से विचलन ही नहीं, एक सर्वथा नूतन प्रस्थान भी ठहरता है। ग्रंथ के उपसंहार तक पहुँचते–पहुँचते सहृदय पाठक के भीतर यह प्रतीक दृढ़ हो जाती है कि योग विद्या का ऐसा प्रामाणिक पाठ, उसके सारे अंगों–उपांगों के भीतर ऐसी गहरी पैठ और ठेठ आधुनिक ज्ञान–विज्ञान से सम्पन्न या प्रभावित मानसिकता के संस्कारों और आदतों को भी आमूलचूल हिला देने वाली विवेचना इसके पहले शायद ही किसी के लिए संभव हुई हो। यों लेखक की ओर से उसके नयेपन या मौलिकता का कोई दावा पेश नहीं किया गया है, किन्तु पाठक अपने–आप ही इस प्रतिपादन की प्रांजल पारदर्शिता से इस कदर अभिभूत हो उठता है-- अपनी सारी प्रश्नाकुलता के बावजूद--कि उसे लगता है, 'योग' के वास्तविक मर्म और प्रयोजन को पहली बार उद्घाटित किया गया है। इससे पूर्व किसी ने भी–यहाँ तक कि प्राचीन या आधुनिक भारत में जहाँ एक से एक विभूतियाँ हो चुकीं– जिनमें से कई तो हो सकता है, श्री अरविन्द से

भी उच्चतर सिद्धपुरूष रहे हों–किन्तु समूचे जीवन के रूपान्तरण का ऐसा सपना, जो यथार्थ से भी बलवत्तर हो–यथार्थ के भी सिर पर चढ़कर बोलने वाला अतियथार्थ हो–ऐसा सपना योग को लेकर आज तक हमारी परम्परा में भी किसी ने नहीं देखा होगा। और ... फिर भी किमाश्चर्यमतः परं ?.... यह विस्फोटक नयापन भी कोई अजूबा नहीं लगता, चाहे आपको इसकी यथातथ्यता पर पूरा भरोसा हो, न हो, इतना आपको विश्वास हो जाता है कि यह परम्परा का प्रत्याख्यान नहीं, उसकी एकमात्र सहज–स्वाभाविक परिणति है। लौकिक ज्ञान–विज्ञान की जो चमत्कारिक परिणति आज हम देख रहे हैं, उसी के समकक्ष, उसी के प्रत्युत्तर स्वरूप अध्यात्म–विज्ञान की, अर्थात् योग विद्या की भी परम्परागत प्रगति के मार्ग में आए सारे अवरोधों का निराकरण करते हुए हमारे इस अधुनातन ऋषि–द्रष्टा ने उसे उसकी स्वाभाविक परिणति तक पहुँचाने का, समस्त जीवन–संसार के कायाकल्प का मार्ग खोज निकाला है, जो योग विद्या का वास्तविक उद्देश्य और प्रयोजन था, और है भी वस्तुतः। अक्सर ज्यादातर किताबों के पीछे दूसरी किताबें होती हैं परंतु यह किताब उन सबसे भिन्न है। निःसन्देह इस ग्रंथ का लेखक वेद–उपनिषद्–गीता–रामायण–महाभारत के समूचे वाङ्मय से परिचित ही नहीं, घनिष्ठ जान पड़ता है : वेद–व्याख्या के क्षेत्र में तो उसका योगदान अप्रतिम–अग्रणी है। मुझ सरीखे जाने कितने लोग होंगे जिन्हें अपनी इस आदि वाङ्मय में प्रवेश ही उनके 'ऑन द वेदाज' के द्वार से मिला। 'एस्सेज ऑन गीता' भी अनूठा भाष्य है– जिसकी किसी भी अन्य भाष्य से तुलना ही नहीं की जा सकती। किंतु इसका अर्थ यही है कि श्री अरविन्द का 'पढ़ना' भी मौलिक है, उतना ही मौलिक जितना कि लिखना। विशुद्ध या निरे पांडित्य का अतिक्रमण करके सर्वथा नई अन्तर्दृष्टि प्रदान करने वाला ऐसा कृत्य, जो जितना प्रयोगसिद्ध–प्रामाणिक प्रतीत होता है, उतना ही प्रगतिशील भी। 'सावित्री' महाकाव्य में एक प्रसंग 'ऐडवेंचर ऑफ कॉन्शसनेस' पर आया है, मैं कहना चाहता हूँ कि वह श्री अरविन्द के सारे लेखन पर–उसमें भी इस ग्रंथ पर तो पूरी तरह लागू होता है। मैं इसी अर्थ में कहना चाहता हूँ कि 'द सिंथेसिस ऑफ योग' नामक किताब के पीछे दूसरी किताबें नहीं बल्कि 'चेतना का ऐडवेंचर' है, जिसके जीवन्त संपर्क में आना हमारे लिए मात्र एक सुलिखित और आलोकपद ग्रंथ को पढ़ने के अनुभव से सर्वथा भिन्न एक 'घटना' की तरह हमें प्रभावित करता है। मनुष्य की जो सबसे बड़ी प्यास और

अभिलाषा है – सत्य को जानने और जीने की उसकी जो उत्कंठापूर्ण खोज समूचे मानव–इतिहास में दिखाई देती है, वह अपने अनुरूप अभिव्यक्ति के रूपाकार भी गढ़ती आई है। किन्तु यह भी उसी मनुष्य की ऐतिहासिक बिडम्बना है कि मनुष्य द्वारा अर्जित सत्य जहाँ एक बार भाषा और रूपाकारों में ढला कि वह अनिवार्यतः समय के साथ अपनी ताजगी खो देता है। वह नवोन्मेष प्राप्त करे, इसके लिए अनिवार्य शर्त यह है कि वे रूपाकार बदलें, नई भाषा और नए प्रतीक खोजे जायें। यह बात भौतिक विज्ञानों के क्षेत्र में ही नहीं, अध्यात्म–विज्ञान के क्षेत्र में भी लागू होती है, और होनी चाहिये। इसका जैसा एहसास श्री अरविन्द के साथ होता है वैसा और किसी के साथ नहीं होता। कहने का तात्पर्य यही कि परिवर्तन की चुनौती का सहज स्वीकार तथा एक सर्वथा नया प्रगतिशील दृष्टिकोण इस 'सिंथेसिस ऑफ योग' के प्रारम्भ में ही खुलकर सामने आ जाता है। लेखक के शब्दों में– ''आधुनिक मानव एक ऐसे युग–परिवेश में जी रहा है जो खुद एक प्रसव–वेदना से गुजरने की प्रक्रिया में है। मनुष्य–जाति द्वारा अद्यावधि अर्जित सारी वैचारिक उपलब्धियाँ अब एक अभूतपूर्व अग्नि–परीक्षा के लिए प्रस्तुत हो जाएँ– यही इस कठिन समय की मांग है। अभूतपूर्व, मगर दुर्निवार्य अवश्यंभावी मांग और चुनौती, जिससे कतराना असंभव है। भारतीय योगविद्या भी–जो अपने सारतत्त्व में, प्रकृति की किन्हीं ऊर्जाओं की अन्तः क्रियाओं का प्रतिफल है, और जो कालक्रम में कई तरह से विशेषीकृत–विभाजित रूपों–पद्धतियों में ठेठ आज की तारीख तक प्रवहमान है–वह समूची मानव जाति के सर्वाधिक संभावनापूर्ण और प्रगतिशील तत्त्वों में से एक है। अपनी अन्तर्निहित जीवन्तता और सत्यता के बल–बूते ही वह यहाँ तक प्रवाहित होती चली आई है। परंतु अब वह अपनी गुह्य और गोपन गुहाओं से बाहर निकलकर सार्वभौम मानव की आत्यन्तिक अभिलाषाओं और जरूरतों के सार्वजनिक क्षेत्र में प्रवेश करने जा रही है। इसलिए उसे भी स्वयं को इस नई परिस्थिति के अनुकूल स्वयं को ढालना है : स्वयं को पुनर्मूल्यांकित और पुनस्संगठित करना है।''

यहाँ प्रश्न उठेगा, आज के किसी भी बुद्धिजीवी अथवा सामान्य नागरिक के भीतर कि आखिर यह योग क्या है और हमारे जीवन से इसका क्या सम्बन्ध है? श्री अरविन्द कहेंगे कि सारा जीवन या कहें जीवन मात्र ही एक योग है, चाहे वह सचेतन रूप से हो, चाहे अचेतन रूप से। योग की

परिभाषा ही करनी हो, तो वे कहेंगे -- योग मनुष्य की अपनी पूर्णता की उपलब्धि की दिशा में नियोजित वह सुसंगत और सुव्यवस्थित उद्यम है जो न केवल मानव में निहित शक्तियों को जगाए बल्कि उसकी निज--सत्ता को एक ओर विश्वव्यापी सत्ता से और दूसरी ओर, विश्वातीत, परात्पर सत्ता से भी जोड़े। क्योंकि वह वैश्विक और विश्वातीत सत्ता आंशिक रूप से मानव--व्यक्ति में तथा समूचे ब्रह्माण्ड में अपने को प्रकट करती दिखाई देती है। जैसाकि गीता में भी योगेश्वर श्रीकृष्ण के मुख से यही कहलवाया गया है कि *ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।* स्वामी विवेकानन्द की वह उक्ति बड़ी सारगर्भित है कि "योग उस विशिष्ट उपाय याकि प्रणाली का नाम है जो प्रकृति के सुदीर्घ विकास--क्रम को एक ही जीवनावधि के भीतर, यहाँ तक कि कुछेक बरसों या महीनों के भीतर ही संघनित कर दे सकती है। इस पर श्री अरविन्द की सराहनात्मक टिप्पणी है कि "योगविषयक यह दृष्टि योग की समस्त संचित साधना–पद्धतियों को एक युक्तिसंगत आधार प्रदान करती है।" अभी तक योग को एक ऐसी असामान्य, रहस्यपूर्ण गतिविधि की तरह पेश किया जाता रहा है जिसका विश्व को चलाने वाली ऊर्जा की सामान्य प्रक्रियाओं से अथवा मनुष्य की सामान्य अन्तर्मुखी और बहिर्मुखी गतिविधियों से मानो कुछ भी लेना–देना नहीं है। जबकि सही दृष्टि यही होगी कि हम योग को प्रकृति में सक्रिय उन ऊर्जाओं के एक ऐसे सघन–संकेन्द्रित विनियोजन की तरह पहचानें और स्वीकार करें, जो प्रकृति में सदैव कार्यरत रही हैं। उदाहरण के लिए, भाप और बिजली कब नहीं थे प्रकृति में? सदैव ही थे। किन्तु यह श्रेय आधुनिक युग के मानव को ही जाता है कि उसने उन शक्तियों के उपयोग की संभावनाएँ खोजी; मनुष्य के दैनिक जीवन को समृद्ध करने के लिए। तो जैसे प्राकृतिक ऊर्जा का यह आविष्कार और दक्ष दोहन वैज्ञानिक विश्लेषण और प्रयोगशीलता के जरिये संभव हुआ, वैसे ही योग द्वारा उन्मुक्त ऊर्जा की संभावना को भी मानवीचेतना ने स्वयं पर ही निरन्तर प्रयोग के जरिये आविष्कृत किया। स्पष्ट तौर पर दोनों जगह सावधानी की अपेक्षा होगी। जिस तरह वैज्ञानिक तकनीकी आविष्कार जहाँ एक ओर मनुष्य की सामर्थ्य का क्षेत्रफल बढ़ाते हैं, वहीं साधन को ही साध्य बना डालने के दुश्चक्र में फँस जाने का अर्थात् अपनी स्व--तंत्रता को यंत्रों की--यंत्रचर्या की–गुलामी में खो देने का खतरा भी मोल ले लेते हैं। दूसरी ओर योगमार्ग में अर्जित आत्मिक संपदा को भी एकांगी हो जाने की–

अर्थात् लौकिक जीवन का तिरस्कार करने की, उसके रूपान्तरण की कर्म--क्षमता गँवा देने की कीमत चुकानी पड़ जाती है। योगी ईश्वर को पा लेता है, अपना मोक्ष भी साध लेता है, मगर मानव जीवन के लौकिक अभ्युदय का अवसर गँवाकर उसी तरह, जिस तरह कि, प्रकृति पर विजय पाने, उसको वशीकृत करने की अपनी महत्त्वाकांक्षा के चलते वैज्ञानिक अपनी आत्मा को, ईश्वर को ही खो देने का खतरा मोल ले लेता है। मनुष्य के लौकिक जीवन की प्रगति में योगी की आध्यात्मिक उपलब्धि कुछ काम नहीं आती। जीवन–संसार जहाँ का तहाँ छूटा रह जाता है। श्री अरविन्द इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि भारतवर्ष में योगविद्या की प्रगति एकांगिता से ग्रस्त हो गई, जीवन -- संसार से विमुख हो गई है। इसके ठीक विपरीत पश्चिम में प्रकृति से रण ठानने, उसे लौकिक प्रगति के लिए जीतने के इकतरफा वैज्ञानिक अभियान ने आत्मा के जीवन को अवरूद्ध कर दिया है।

इस विडम्बना को, इस असंतुलन को ठीक किये बिना अब काम नहीं चलेगा। श्री अरविन्द की दृष्टि से हमारी योगविद्या भी अपनी सारी विभूतिमत्ता के बावजूद अधूरी--एकांगी है, क्योंकि वह समूचे जीवने के दिव्य रूपान्तरण के अनिवार्य लक्ष्य को लेकर प्रयुक्त नहीं होती। अब उसका उद्देश्य और ध्येय परमात्म और प्रकृति दोनों को एक--दूसरे के करीब लाते हुए उन्हें परस्पर संयुक्त करना होना चाहिये। अब योग को मनुष्य के आभ्यंतरिक और बाह्य जीवन को परस्पर संवादिता में ढालना ही होगा। सच कहें तो सर्वांगीण प्रगति के पक्ष में नियोजित होना है अब योग को; तभी वह पूर्ण योग कहलाएगा।

परमात्म--विज्ञान को लेकर श्री अरविन्द के उक्त आकलन में सर्वोच्च ज्ञान और दर्शन वही है जो दिव्य परमात्म--सत्ता को समूचे विश्व--ब्रह्माण्ड में व्याप्त देखता है और उससे परे भी। पूर्णयोग तब उसी योग को कहा जा सकता है जो विश्वातीत परमतत्त्व का साक्षात्कार करके ही कृतकृत्य नहीं हो जाता, प्रत्युत पुनः विश्व में वापस उतरकर उस पर भी प्रभुत्व स्थापित करता है। दूसरे शब्दों में इसे यों कहें; कि योगी इस अस्तित्व के महान् सोपान–क्रम पर जितना ऊपर बढ़ने के लिए स्वतंत्र है, उतना ही नीचे उतरने के लिए भी। चेतना का धर्म या दायित्व दुहरा है। आरोहण और अवरोहण दोनों की लयात्मक सिद्धि। मात्र आरोहण और जीवन–संसार के अतिक्रमण की सिद्धि नहीं। आखिरकार इस विश्व ब्रह्माण्ड का स्रष्टा और नियंता या

परमतत्त्व या कहें परमात्मा इस विश्व से कैसे निरपेक्ष और उदासीन हो सकता है? सहज बुद्धि और योग–बुद्धि *(युक्तस्वप्रावबोधश्च योगो भवति दुःखहा)* भी यही न सुझाती है कि ऐसा नहीं हो सकता और नहीं होना चाहिए।

इस प्रकार प्रकृति में तीन सीढ़ियाँ हैं, एक तो ऐहिक–दैहिक जीवन, जो इस भौतिक जगत् में हमारे अस्तित्व का अर्थात् जीने का आधार है। दूसरा, वह भाविक–मानसिक जीवन, जिसे हम मानव–जीव–प्रकृति के विकास–क्रम में उपलब्ध करते हैं और जिसके बूते, जिसके जरिये हम अपने दैहिक जीवन का उत्तरोत्तर बेहतर और उच्चतर उपयोग करते हुए अधिकाधिक पूर्णता की ओर अग्रसर होते हैं। तीसरी और अन्तिम सीढी वह है जो पहले दो सोपानों पर आरोहण कर चुकने के उपरान्त आती है। जो दिव्य जीवन की सीढ़ी है, पहली दो सीढ़ियाँ चढ़ चुकने के बाद वह अपने आरोहण की सम्पन्नता के क्षण में ही मनुष्य को प्रेरित करती है। यह कि अब लौटकर फिर उन्हीं सीढ़ियों पर अवरोहण करते हुए उन्हें भी उनकी उच्चतम संभावनाओं में उन्मुक्त करे। मनुष्य का पुरुषार्थ इसी में है कि वह अपनी इन दिव्य संभावना को अपनी पहुँच से बाहर न माने, न ही तथाकथित मोक्ष, यानी तत्कथित सर्वोच्च पुरुषार्थ के लिए उनका बलिदान कर दे। श्री अरविन्द इस प्रकार मोक्ष या मुक्ति की परंपरागत परिभाषा को ही बदल देते हैं। उसमें एक मूलगामी परिवर्तन कर देते हैं। उनके लिए मुक्ति का अर्थ मानवी संभावनाओं का सम्पूर्ण चरितार्थन होना चाहिये, न कि जीवन–संसार का परित्याग और अतिक्रमण। यह चारितार्थन श्री अरविन्द की दृष्टि में योगविद्या का या कहलें, परमात्म–विज्ञान का अनिवार्य और महत्त्वपूर्ण अंग है: अर्थात् दैहिक और मानसिक स्तरों का भी दिव्य जीवन में रूपान्तरण–दिव्य ऊर्जा के ही माध्यम से।

तो जिस प्रकार प्रकृति के विकास–क्रम के तीन स्तर या तीन सोपान उजागर होते हैं, उसी प्रकार मानव–जीवन की त्रिविध प्रगतिशील संभावनाएँ भी उजागर होती हैं। ये दोनों बातें योग के वास्तविक लक्ष्य को उद्घाटित करती हैं। अर्थात् परम्परागत योग को अधुनातन 'पूर्णयोग' में रूपान्तरित करने की प्रेरणा देती हैं। परन्तु पाठक का समाधान इतने से नहीं होगा संभवतः। वह पूछेगा–ऐसा कैसे? क्या इस 'सिन्थेसिस' के द्रष्टा उसकी इस प्रश्नाकुलता का भी सत्कार करेंगे ?

अवश्य करेंगे। उनका तर्क सुस्पष्ट है। 'स्पिरिट' यानी आत्मा क्या हैं? वह यदि समग्र विश्वव्यापी और विश्वोत्तीर्ण सत्ता की मुकुटमणि है– परमार्थ है, तो भौतिक पदार्थ उसका आधार है और 'माइंड' यानी मन दोनों की मध्यवर्ती, दोनों को जोड़ने वाली कड़ी। आत्मा वह वस्तु है जो नित्य और सनातन है, जबकि मन और यह चराचर भौतिक जगत् उसकी क्रियाएँ--उसकी लीला क्षेत्र। अरविन्द इसे एक दूसरे ढंग से भी समझाते हैं, कहते हैं कि 'आत्मा वह वस्तु है जो अन्तर्निहित है, गोपन है और जिसे प्रकट होना है। मन और देह उसके वे उपकरण याकि साधन हैं जिनके माध्यम से वह अपना प्राकट्य चाहती है। आत्मा यदि योगेश्वर की मूर्ति है, तो शरीर और मन (अन्तःकरण जिसे यूँ ही नहीं कहा गया) वे उपकरण--साधन हैं जो उस मूर्ति की लौकिक आस्तित्व में अवतारणा या पुनर्रचना के लिए सुलभ किये गए हैं। इसका अर्थ क्या हुआ? यही ना, कि समस्त प्रकृति उस छुपे हुए, प्रच्छन्न सत्य के क्रमबद्ध और प्रगतिशील प्राकट्य का,उद्घाटन का, उपक्रम है। दिव्य सत्ता की उस मूर्ति की उत्तरोत्तर और अधिकाधिक सफल पुनर्रचना।

अन्तर बस इतना ही, कि प्रकृति जिस लक्ष्य को अपनी समूची चराचर सृष्टि के लिए एक बहुत धीमी विकास–प्रक्रिया द्वारा पाने के उद्देश्य से संचालित है, वहाँ योग उसी लक्ष्य को व्यष्टि के माध्यम से एक क्षिप्रतर प्रक्रिया द्वारा–क्रान्ति सरीखी त्वरा से--हासिल करने की अभीप्सा से अनुप्राणित होता है। ऐसा चमत्कार वह प्रकृति में निहित ऊर्जाओं के ही त्वरित सहयोग और उन्नयन द्वारा सिद्ध करता है। आध्यात्मिक जीवन की दिशा में यूँ तो प्रकृति भी अपने ढंग से अग्रसर होती ही है, किन्तु यह निश्चय ही उसके लिए दुस्साध्य है, और इसी दुस्साध्यता के चलते उसे कई बार अपने आगे बढ़े हुए कदम पीछे खींच लेने को विवश होना पड़ता है। जबकि, दूसरी ओर योग की संकेन्द्रित और सघन–एकाग्र विधि इस लक्ष्य को सीधे और अत्यन्त त्वरित गति से साध लेती है। मन को और यथासंभव देह को भी निरन्तर विकसित और उन्नत करते हुए। इसे यूँ भी कह सकते हैं कि प्रकृति परम तत्त्व को अपने ही प्रतीकों में–अपने ही प्रतीकों के माध्यम से खोजती है, जबकि योग प्रकृति से परे, प्रकृति के स्वामी की ओर गतिशील होता है। विश्वोत्तीर्ण होकर विश्व से भी परे विश्वातीत परमात्मा की ओर। मुद्दे की बात यहाँ यह कि इस आरोहण के ऐडवेंचर के अलावा यह 'वह' उस सर्वोच्च बिन्दु से फिर वापस विश्व और प्रकृति की ओर अवरोहण भी करता है। उस विश्वातीत परमात्म--शक्ति का प्रकाश लेकर पुनः इस पार्थिव जगत् में लौटता है।

इसका आशय यह कदापि नहीं कि ये दोनों शक्तियाँ एक दूसरे के विरोध में सक्रिय हैं। इसका आशय यह है कि प्रकृति और योग दोनों का लक्ष्य एक ही है। उसे पाने के लिए स्पष्ट ही योग विद्या को पूर्व की भाँति नितान्त गुह्य–गोपन न रहकर सर्वव्यापी और सर्वसुलभ बनाना होगा। प्रकृति की जो स्वयं की विलम्बित और मंथर गति है, दुराव–छिपाव की वृत्ति है, उस पर विजय प्राप्त करनी होगी। जिस तरह वैज्ञानिक शोध में प्रवृत्त होने वाली मनुष्य की प्रगतिशील बुद्धि समस्त मानवजाति को लाभ पहुँचाने और उसको मानसिक जीवन के पूर्ण विकास हेतु सक्षम बनाने के लिए विनियोजित होती है, उसी तरह योगलभ्य ऊर्जा के माध्यम से वह अनिवार्यतः मानव–जाति को, समष्टि को, एक उच्चतर अभीप्सा और विकास–यात्रा के लिए सक्षम बना सकती है, बनाएगी ही। और तब वह हमारी मनुष्यता का यानी मनुष्यभाव का, दूसरा जन्म होगा। अपनी आध्यात्मिक सत्ता में पुनर्जन्म। जिस प्रकार मनुष्य का मानसिक–बौद्धिक जीवन उसके भौतिक जीवन का उपयोग करते हुए उसे पूर्ण करता है, उसी प्रकार तब वह आध्यात्मिक–सत्तामय जीवन हमारे भौतिक एवं मानसिक अस्तित्व दोनों को अपनी दिव्य आत्माभिव्यक्ति का उपकरण बनाएगा। तभी मनुष्य में अन्तर्निहित प्रकृति का–प्राकृतिक ऊर्जा का भी असली प्रयोजन और महत् कार्य सम्पन्न होगा।

अब यह मनुष्य पर निर्भर है कि वह कैसे बिना प्रकृति से रण ठाने, बिना उसका तिरस्कार अथवा निरा उपभोग, दोहन और दुरुपयोग किये उसके अर्थात् जगत्साक्षिणी जगदम्बा प्रकृति के अन्तर्निहित अभिप्राय को हृदयंगम करते हुए, स्वयं उसी के शक्तिशाली उपकरणों के माध्यम से उसके सर्वोच्च हालांकि गुह्य–गोपन लक्ष्य को चरितार्थ करने की दिशा में अपने प्रगतिशील कदम बढ़ाता है।

इस लक्ष्य विवेचना के उपरान्त श्री अरविन्द को हम परम्परागत यौगिक साधनाओं के अवलोकन और विश्लेषणात्मक परीक्षण में प्रवृत्त होते देख सकते हैं। वे ज्ञान, भक्ति और कर्मयोग की प्रक्रियाओं और परिणामों को जाँचते–परखते हुए दर्शाते हैं कि किस तरह उनकी समन्वयकारी प्रयोगमूलक दृष्टि में और अनुभव में ये तीनों मार्ग एकजुट यानी एक ही हो जाते हैं। उनका कहना है कि इस त्रिविध किन्तु ऐक्योन्मुख पथ पर चलकर ही हम पूर्ण ज्ञान, पूर्ण श्रद्धा और पूर्ण समर्पण भाव और सक्रिय सेवा के द्वारा उस एकमेवाद्वितीय ब्रह्म तक पहुँच सकते हैं, जो एकोदेवः सर्वभूतेषु गूढ़ भी है और सर्वव्यापी, सर्व भूतान्तरात्मा भी। और जो नाना रूपों में इस ब्रह्माण्ड में अपनी सार्थक, साभिप्राय लीला रचाए हुए है।

अब प्रश्न यह है कि इन परस्पर भिन्न योग पद्धतियों का समन्वय या सिंथेसिस कैसे हो सकता है? वे अगर अलग--अलग पनपीं और अलग--अलग मार्गों के रूप में विकसित हुईं तो क्यों हुईं ? ऐसा ही होना स्वाभाविक और अनिवार्य होगा, इसीलिए न? संभवतः ऐसी ही शंकाओं को भाँपते हुए श्री अरविन्द हमारे सम्मुख अभी कुछ ही समय पहले प्रगट हुए, श्री रामकृष्ण परमहंस का दृष्टान्त प्रस्तुत करते हैं, ऐसे ही महान् आध्यात्मिक समन्वय की सामर्थ्य का जीता--जागता दृष्टान्त। वे मानते हैं, कहते हैं कि यह दुर्लभ उदाहरण है एक के बाद एक सम्प्रदाय और साधना पद्धतियों को आत्मसात् कर लेने का। इतना दुर्लभ और विरल कि उसे दुहराया नहीं जा सकता। सामान्यीकृत आदर्श की तरह उसका अनुकरण करना भी टेढ़ी खीर है। सब ऐसा नहीं कर सकते– स्पष्ट ही। तब फिर? रामकृष्ण का महत्त्व श्री अरविन्द की दृष्टि में यह है कि "उन्होंने परस्पर भिन्न और परस्पर विरोधी सम्प्रदायों और पद्धतियों को भी आत्मसात् करके यह दिखा दिया कि मानवजाति की सबसे बड़ी जरूरत क्या है। और वह जरूरत यह साबित करने की है कि सारे संप्रदाय और सारी साधना पद्धतियाँ अन्ततः एक ही पूर्ण सत्य के विविध अवयव हैं और सभी का उद्देश्य अपने--अपने तरीके से उस एक ही का सर्वोच्च एकता के अनुभव को उपलब्ध करना है।" परन्तु अपने इस समग्रतावादी दर्शन के प्रस्तावक श्री अरविन्द स्पष्ट कहते हैं कि "हम जिस पूर्णयोग को प्रस्तावित कर रहे हैं, वह इस तरह उपलब्ध नहीं हो सकता। हमें किसी केन्द्रीय गतिशील तत्त्व को पकड़ना होगा जो इन सारे परस्पर विरोधी मार्गों का सर्वनिष्ठ तत्त्व और रहस्य है। यहीं, इसी जगह श्री अरविन्द तंत्र साधना का उल्लेख करते हैं पहली बार, किन्तु उसकी ऐतिहासिक विफलता को भी रेखांकित करते हुए कि वह क्यों किस तरह अन्ततः बहुत ही रपटीला और अनिष्ट परिणाम उपजाने वाला मार्ग निकला। जहाँ अन्य मार्ग ज्ञान मार्ग हैं – जैसे वेदान्त, जिसमें योग का अधिष्ठाता पुरुष है, वहाँ तंत्र में वह स्थान 'प्रकृति' ले लेती है। श्री अरविन्द इसी 'शक्ति' पर ध्यान केन्द्रित करते हैं–वाममार्गी अतिवाद से बचते हुए। कहते हैं, हमें इस तंत्र के सर्वोत्तम योगदान को लेना ही है क्योंकि उसका विरोधी जो विकल्प है, ज्ञानमार्ग का अर्थात् वेदान्त का – उसमें तो यह प्रकृति, यह महाशक्ति माया बन जाती है और साक्षी है कि इस मायावाद ने कितना अनर्थ उपाजाया है, कितना नुकसान पहुँचाया है हमारी प्रगति को। वह तो अब बिल्कुल नहीं चलेगा। प्रत्यासन्न जरूरत है – योग के व्यावहारिक मनोविज्ञान में 'प्रकृति'

की ही सही और तात्त्विक अवधारणा से शुरूआत करने की। वह क्या है? वह है पुरुष का अपनी शक्ति यानी प्रकृति के माध्यम से अपने को उपलब्ध करना। यानी आत्म चरितार्थन। किन्तु यहीं पर 'एस्सेज ऑन गीता' के लेखक को *'अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे परां'* का स्मरण हुआ होगा। तभी तो वे कहते हैं कि ''प्रकृति की गति दोहरी है, वह पराप्रकृति भी है, अपरा प्रकृति भी, जहाँ तक इस निचली 'अपरा' प्रकृति का प्रश्न है, वह सीमाओं के साथ और विभाजन के जरिये काम करती है, अज्ञान को अपने ऊपर ओढ़कर अज्ञान के भीतर से ही अपना काम करती है और इसी कारण मनुष्य के क्रिया--कलाप और आचार–विचार भी एक सीमा बद्ध अहं से परिचालित होने को बाध्य हैं। किन्तु सवाल सिर्फ 'मनुष्य क्या है' इतना ही नहीं है। सवाल यह भी है कि वह क्या हो सकता और होना चाहता है? उसकी संभावना भी उसके 'होने' के यथार्थ से जुड़ी है। सृष्टि के विकास–क्रम में मनुष्य की विलक्षण अवस्थिति का ही यह तकाजा है, कि मनुष्य जैसा वह बना है, उसका भी यानी अपने आप का भी अतिक्रमण करे। मन में आता है कि पौराणिक वेदनतंत्र जिसे नर–नारायण के सख्य–सम्बन्ध के रूप में पहचानता था, उसी को आधुनिक विज्ञान से प्रभावित अध्यात्म अनजाने विकासवादी सिद्धान्त की अनिवार्य परिणति की तरह ब्रह्माण्डीय शक्तियों के साथ मानव के चेतना सहयोग के रूप में देखने लगा है। अपरा प्रकृति की उपज इस मनुष्य की अभीप्सा वस्तुतः पराप्रकृति से जुड़कर अपनी संभावना को चरितार्थ करने की है, जो पराप्रकृति अपरा की तरह विभाजन की प्रक्रिया से नहीं, अपितु एकीकरण और सीमोलंघन की उच्चतर प्रक्रिया से काम करती है क्योंकि उसका मूल स्वभाव अज्ञान का नहीं ज्ञान का है और इसलिए परिणति भी उसकी दिव्य जीवन में होती है। इस प्रकार योग का लक्ष्य हो गया अपरा को लांघकर एकबारगी परा–प्रकृति में पहुँचना। सामान्यतः अभी तक का तरीका अपरा प्रकृति को इसी तरह नकार कर परा–प्रकृति की शरण लेने का रहा है। परन्तु अपेक्षाकृत स्वस्थ और समग्र–संवेदी तरीका है अपरा–प्रकृति को पूरी तरह जीते हुए उसका क्रमिक रूपान्तरण और उर्ध्वोन्मुख प्रगति खोजना परा प्रकृति में। यही पूर्णयोग का लक्ष्य है श्री अरविन्द के अनुसार।

परन्तु इस पूर्णयोग की प्रविधि क्या होगी? किस मायने में वह परम्परागत प्रणालियों से भिन्न प्रस्थान है? श्री अरविन्द के ही शब्दों में (मेरे हिन्दी अनुवाद में) :

पूर्णयोग के पथपर अग्रसर होने के लिए जिस विधि का अनुगमन हमें करना है वह है -- अपनी संपूर्ण चेतन सत्ता को उस दिव्य परमात्मशक्ति से सम्पर्क को संपूर्णतः समर्पित कर देना और उसका आवाहन करना--हमारी सम्पूर्ण लौकिक सत्ता को उसकी दिव्य सत्ता में रूपान्तरित करने के लिए। आशय यही, कि परमात्मा स्वयं, जो हमारे घट में विराजमान है--और हमारा अन्तर्गुहावासी पुरुष या कि पुरुषोत्तम है, वही दोनों भूमिकाएँ निभाएगा। वही हमारी इस पूर्णयोग--साधना का साधक भी होगा और साध्य यानी वह योगेश्वर भी, जिसके द्वारा हमारा निम्नतर स्थूल व्यक्तित्व भी प्रयुक्त किया जाता है--दिव्य रूपान्तरकारी प्रक्रिया के केन्द्र की तरह--स्वयं अपनी पूर्णता के माध्यम की तरह। कुल मिलाकर इस तपस्या का दबाव--दिव्य पराप्रकृति में निगूढ़ हमारी चैतन्य शक्ति का दबाव --हमारी समग्र अस्मिता पर पड़ेगा और आत्मोलब्धि में परिणमित होगा। इसी राह से जो दिव्य परमात्म--शक्ति है -- सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान--वह हमारी इस सीमाबद्ध व्यक्तिमत्ता पर उतरेगी -- उसे क्रमशः उजलाती हुई, यानी हमारी निम्नगा प्रकृति को उन्नीत करती हुई वह हमारी दुर्बल मानवीय सत्ता को अपनी दिव्य ऊर्जा से उत्तरोत्तर विस्थापित करेगी।

मनोविज्ञान की शब्दावली में इस बात को यूँ रखेंगे कि यह पूर्णयोग प्रणाली हमारे सीमित अहं का क्रमिक प्रत्यर्पण है उस परात्पर सत्ता के प्रति जो कि उससे परे है। निस्संदेह यह समर्पण सुनने में जितना सरल लगता है उतना सरल कदापि नहीं है। उसके लिए आपार श्रद्धा--बुद्धि, अदम्य साहस और असीम धैर्य चाहिए।

इस सुदीर्घ भूमिका का समापन करते हुए श्री अरविन्द का जो कथन है वह इस समूचे ग्रंथ के सार--संक्षेप और प्राणतत्त्व जैसा प्रतीत होता है। मूल अंग्रेजी में ही उसे उद्धृत करें तब बाद में उसका खुलासा करने का यत्न करना ठीक रहेगा। वे कहते हैं :--

The divinising of the normal material life of man and his great secular attempt of mental and moral self-culture in the individual and the race by this integralising of a widely perfect spiritual existence would thus be the crown alike of our individual and of our Common effort. Such a Consumnation being no other than the kingdom of heaven within reproduced in the kingdom of heaven without, would be also the true fullfilment of the great dream cherished in different terms by the world's religious.

The widest synthesis of perfection possible to thought is the sole effort entirely worthy of those whose dedicated vision perceives that God dwells concealed in humanity.

इसे हम यूँ समझें कि नर ही प्रच्छन्न अधिवास है नारायण का। जितनी जरूरत नर को नारायण की हो सकती है उससे कम जरूरत नारायण को भी नर की नहीं है। 'नर जिसकी अनझिप आँखों में नारायण की व्यथा भरी है? जैसाकि हमारे एक कवि ने भी अपने ही ढंग से अनुभव किया है –क्या मतलब है उसका? क्या अभिप्राय है कुल मिलाकर श्री अरविन्द की इस तत्त्व–चिंतना का? मनुष्य के सामान्य भौतिक जीवन का तथा सभ्यता के विकास की दशा में नितान्त लौकिक लोकायतिक या सेक्युलर प्रयत्न जो रहा है उसका, अपनी मानसिक और नैतिक संस्कृति विकसित करने का व्यक्तिगत और सामुदायिक दोनों स्तरों पर – उसी के दिव्य रूपान्तरण का विचार भी श्री अरविन्द का योगविद्या की परम्परा में उनका अतिविशिष्ट योगदान है। एक ओर जितना यथार्थ आध्यात्मिक जीवन है, तो दूसरी ओर उतना ही यथार्थ भौतिक जीवन। अभी तक का मानव–इतिहास अधिकांशतः इन दोनों को एक–दूसरे से स्वतंत्र और पृथक् रखते हुए ही जीने और सोचने–करने का इतिहास रहा है। यही मानते हुए कि दोनों के बीच एक अपाट्य खाई है। किन्तु यह आधुनिक विज्ञान के विकासवादी सिद्धांत को गंभीरतापूर्वक अपने आध्यात्मिक अनुभव और चिंतन की धुरी की तरह सहज ही इस्तेमाल करने वाला सच्चे अर्थों में प्रगतिशील योगी इस खाई को अपाट्य मानने से इनकार करता है। निश्चय ही, आध्यात्मिक जीवन यानी दिव्य की अभीप्सा ही मनुष्य का असली पुरुषार्थ है, किन्तु उस पुरुषार्थ की सिद्धि इस लौकिक जीवन का तिरस्कार करके ही संभव है, इस धारणा को श्री अरविन्द दृढ़तापूर्वक नकारते हैं। उनका पूरा जोर समूचे जीवन–संसार के दिव्य रूपान्तरण पर है। अन्य विश्वधर्म, मसलन, ईसाइयत ही जिस स्वर्ग–राज्य की बात करते हैं, उसे भी यदि सचमुच इसी धरती पर, इसी मानव–देह में चरितार्थ होना है, तो उसका मार्ग यह पूर्णयोग ही है, न कि उन धर्मों के अपने मतवाद। इतना ही नहीं, श्री अरविन्द तो भारतीय धर्मसाधना की भी वेदोत्तरकालीन वैराग्यमुखी एकांगी मोक्ष की अवधारणा को भी स्वीकार नहीं करते। वे भारत के सन्यासपरक निवृत्तिवाद की जिसे वे 'एस्सेटिक डिनायल' का नाम देते हैं, और पाश्चात्य सभ्यता के भौतिकवादी

नकार--मैटीरियलिस्ट रिफ्यूजल की दोनों की एकांगिता का प्रत्याख्यान करते हैं। विश्वमिथ्यात्व के दलदल में फँसी अध्यात्मविद्या की पंगुता के दुष्परिणाम भारत को किस कदर भुगतने पड़े हैं, हमारा हजार बरसों का इतिहास इसे साफ तौर पर दर्शाता है। हमारी राजनैतिक अधोगति और सांस्कृतिक बदहाली भी हमारे सामने उजागर है। दूसरी तरफ पश्चिम की अभूतपूर्व प्रकृति–विजयी चमत्कारिक भौतिक उपलब्धियाँ भी उसे दो–दो महायुद्धों से और अधुनातन आतंकवादी और पर्यावरणीय संकटों से नहीं उबार पाई है। श्री अरविन्द का पूर्णयोग इन दोनों अतिवादी परिणतियों का परिहार करते हुए विश्व–मानवता के उद्धार का एक नया मार्ग सुझाता है–जो हमें अभी सन् 1949 तक सक्रिय गुर्जिफ नामक एक चमत्कारी व्यक्ति के द्वारा सुझाए गए 'चेतना मार्ग' का और उसके द्वारा संस्थापित 'इन्सटीट्यूट फॉर दि हार्मोनियस डेवलपमेंट ऑफ मैन' की बहुचर्चित गतिविधियों का स्मरण दिलाता हैं। हालांकि ये दोनों प्रतिभा–पुरुष एक–दूसरे के जीवन–कार्य से सर्वथा अपरिचित और अप्रभावित थे। दोनों का तरीका सर्वदा स्वतंत्र और पृथक् होते हुए भी मूल विचार का विलक्षण साम्य हमें अचरज में डाल देता है। वह साम्य यह प्रमाणित करता है कि सबसे संवदेनशील और साहसिक एडवेंचरस प्रतिभाएँ जो इस युग में अविर्भूत हुई हैं, वे चाहे पश्चिमी सभ्यता की उपज हों, चाहे भारतीय संस्कृति की–दोनों की चिन्ताएँ और मुक्ति–चेष्टाएँ समानान्तर चल रही हैं। श्री अरविन्द के दृष्टिकोण को हम भारत के परम्परिक दृष्टिकोण का एक नया प्रस्थान और, नई दिशा मानते हुए उसे प्रगतिशील आध्यात्मिक दृष्टिकोण कह सकते हैं। यह प्रगतिशीलता आध्यात्मिक यथार्थ की ही शर्तों पर, परमात्म--विज्ञान की ही अधुनातन खोज की शर्तों पर ही काम करती है। वह जड़ तत्त्व को नहीं चिन्मय शक्ति को ही–जगत्साक्षिणी संवित् जिसे शंकराचार्य भी कहते हैं –उसी पर एकाग्र होकर इसी के प्रति सम्पूर्ण समपर्ण–भाव को ही जीवन–जगत् के रूपान्तरण किंवा कायाकल्प का माध्यम बनाती है, और इस मानी में वह गहरे में सनातन भारतीय आत्म--विद्या से ही प्रेरित है। जैसा कि इस लेख में पहले भी संकेत किया जा चुका है, श्री अरविन्द का यह 'पूर्णयोग' दरअसल भारतीय अध्यात्म के मूलभूत नर--नारायण सख्य--सम्बन्ध के पौराणिक अनुभव का ही ठेठ आधुनिक मानव की जटिलताओं के भीतर पुनराविष्कार और पुनर्मूल्यांकन करती है और उसकी आधुनिक संदर्भों में पुनः प्रतिष्ठा का, प्राण–प्रतिष्ठा का आयोजन

भी। 'पूर्णयोग' का यह श्री अरविन्दीय दर्शन भारतीय काल–दृष्टि की प्रासंगिकता को भी नए सिरे से उद्घाटित करता है --जैसा कि प्रस्तुत ग्रंथ में भी सतयुग–कलियुग आदि को नितान्त नया अर्थ प्रदान करते हुए किया गया है। जीवात्मा, विश्वात्मा और परमात्मा के गतिशील और ऐक्योन्मुखी सम्बन्ध को यह पूर्णयोग ठेठ साम्प्रतिक सन्दर्भ में पुनराविष्कृत और पुनर्मूल्यांकित करते हुए अपने इस नूतन–चेतना–मार्ग का औचित्य प्रतिपादित करता है। यह मार्ग उसी मानव के योग्य है, जो अपनी समर्पण–भावना के बूते रोम–रोम में प्रत्यक्ष अनुभव करता है कि दिव्य परमात्म–शक्ति हमारे इस मानवत्व में ही निगूढ़ है। तो यदि यही वास्तविकता है हमारे आस्तिकता की, तो हमारा समूचा जीवन–भौतिक, दैहिक और मानसिक जीवन–पूर्णतया उसी महाशक्ति के प्राकट्य के लिए समर्पित होना चाहिये। यही श्री अरविन्द का आधारभूत तर्क है और इसी में से उनका योग–दर्शन अर्थात् जीवन–दर्शन और विश्व–दर्शन भी रूपायित होता है।

कहना न होगा कि हमें इस दर्शन का भी आलोचनात्मक मूल्यांकन करने में समर्थ होना चाहिए। तभी हमारे उसे अंगीकार करने और अमल में लाने की भी सार्थकता हमारे सामने प्रकट होगी। तभी वह दर्शन अपनी पूरी संभावनाओं के साथ हमारी चेतना में सक्रिय होगा। नहीं तो वह भी अपनी सारी मौलिकता और विस्फोटक नएपन के बाबजूद एक और सम्प्रदाय, एक और मठ में सिकुड़ कर रह जाएगा।

एम–4, निराला नगर
भदभदा रोड़, भोपाल (म.प्र.)

पुस्तक-समीक्षा

तांत्रिक शिवाद्वयवाद में इच्छा-स्वातंय तथा नियमनवाद*

वरुण कुमार त्रिपाठी

इच्छा–स्वातंत्र्य एवं नियमनवाद (फ्री विल एण्ड डिटरमिनिज्म) की समस्या मूलतः पाश्चात्य दर्शनों की समस्या है– डेविड ह्यूम की दृष्टि में तत्त्वमीमांसा का सर्वाधिक विवादास्पद प्रश्न। हम यह नहीं जानते हैं कि इच्छा–स्वातंत्र्य के नाम पर वस्तुतः हमारे पास क्या हैं? जबकि ऐसी मान्यता है (प्रायः सर्वमान्य) कि हम संकल्प या इच्छा के लिए स्वतंत्र है। हम इच्छा–स्वातंत्र्य को पूर्व प्रेक्षित कर मनुष्य का पशु जगत् से भेद भी स्थापित करते हैं। यहाँ यह प्रश्न उठता है कि क्या स्वातंत्र्य किसी 'स्वतंत्र कर्त्ता' की सत्ता को अनिवार्यतः आपातित करता है? अर्थात् क्या यह स्वातंत्र्य 'व्यक्ति' का एक आयाम है? क्या स्वातंत्र्य कर्म स्वातंत्र्य का पर्याय है? प्रकारान्तर से, क्या नियतत्ववाद या नियमनवाद स्वातंत्र्य के पूर्णतया अभाव का सूचक है? पुनः क्या यह कारणता एवं स्वातंत्र्य के पूर्णतया अभाव का भी सूचक है? क्या कारणता एवं स्वातंत्र्य परस्पर विरोधी या व्यावर्तक अवधारणाएं हैं?

इच्छा स्वातंत्र्य का प्रश्न कर्म–स्वातंत्र्य एवं नैतिक–उत्तरदायित्व के प्रश्न से भी जुड़ा हुआ है। कर्म–स्वातंत्र्य चुनाव स्वातंत्र्य का भी संकेत करता है, अर्थात् विकल्पों की उपस्थिति–कम से कम 'अन्यथा करने की स्थिति' को पूर्वप्रेक्षित करता है। थामस हाब्स ने इसके दूसरे पक्ष पर जोर दिया था– 'वाह्य बाधाओं के अभाव' का होना। स्वातंत्र्य का प्रश्न केवल कारणात्मक नियमनवाद (कॉजल डिटरमिनिज्म) की दृष्टि से ही विचारणीय नहीं है, अपितु नैतिक उत्तरदायित्व की दृष्टि से भी अपरिहार्य है। किन्तु, यदि स्वातंत्र्य का अर्थ 'अन्यथा करने की योग्यता' (एबिलिटी टु डू अ दरवाइज)

** डॉ. मीरा रस्तोगी, क्लासिकल पब्लिशिंग कम्पनी, नई दिल्ली, 2006, पृ. 290, मूल्य 800/–*

अथवा 'नहीं करने की स्वतंत्रता' (चूजिंग नॉट टु डू) लिया जाय तो कतिपय परिस्थितियों में नैतिक बाध्यता या कर्त्तव्य बोध' (मॉरल ऑब्लिगेशन) की अवधारणा का पक्षपोषण नहीं किया जा सकेगा। बाध्यता चाहे वह नैतिक ही क्यों न हो, स्वातंत्र्य का हनन करती है। इन्हीं प्रश्नों को लेकर लिखी गयी पुस्तक *'तांत्रिक शिवाद्वयवाद में इच्छा–स्वातंत्र्य तथा नियमनवाद'* भारतीय दार्शनिक चिन्तनधारा की ओर से प्रस्तावित एक सबल प्रत्युत्तर है। विदुषी लेखिका डॉ. मीरा रस्तोगी ने जिस विशदता के साथ विषय का उपस्थापन, उससे सम्बन्धित विविध मतवाद एवं समस्याओं का चित्रण किया है तथा काश्मीर शिवाद्वयवाद (आगे से–का. शि.) के पक्ष का प्रस्तुतीकरण किया है, उससे स्पष्ट है कि लेखिक का न केवल विषय पर अधिकार है, अपितु विषय की अन्तर्निहित संभावनाओं (जिसके आधार पर विवेच्य समस्या का समाधान प्रस्तावित है) का बोध भी है। पुस्तक न केवल सुविचारित रूप से लिखी गयी है बल्कि विषय–वस्तु की योजनाबद्धता भी उतनी ही सुविचारित है। यद्यपि, सम्पूर्ण विवेचना का साररूप संकेत तो भूमिकाकार आचार्य नवजीवन रस्तोगी जी ने पहले ही कर दिया है। मानों पुस्तकीय प्रासाद में प्रवेश के लिए यह भूमिका सिंहद्वार जैसी है।

I

दर्शनशास्त्रों में सामान्यतया कारणता–आधारित नियमन एवं स्वातंत्र्य को अवधारणात्मक गतिरोध (कन्सेप्चुअल स्टेलमेट) के रूप में देखा जाता है। समीक्षा का विषय यह है कि क्या का.शि. में उक्त अवधारणाओं को उसी रूप में समस्याकृत (प्राब्लमेटाइज) किया जा सकता है अथवा नहीं।

पाश्चात्य दर्शनों में इच्छा सम्बन्धी अनेक सिद्धान्तों–उसके अनेक प्रारूपों की बात की गयी है (जो कि इच्छा सम्बन्धी पाश्चात्य मनोविज्ञान से कदाचित् भिन्न भी हैं)। इच्छा का 'फैकल्टी प्रारूप'[1] इच्छा को मनुष्य की एक क्षमता या शक्ति के रूप में परिभाषित करता है। थामस एक्विनास ने इच्छा--स्वातंत्र्य को बौद्धिक क्षमता से जोड़कर देखा था– जहाँ भी बौद्धिकता है वहाँ इच्छा–स्वातंत्र्य है (सुम्मा थियोलॉजिया)। काण्ट ने भी इच्छा को एक फैकल्टी के रूप में देखा था। इच्छा के श्रेणी–प्रारूप के समर्थक हैरी फ्रेंकफर्ट[2] संरचनावादी दृष्टिकोण के आधार पर इच्छा की अनेक श्रेणियों की बात करते हैं, अर्थात्–इच्छाएं अनेक प्रकार की हो सकती हैं तथा सभी इच्छाएं क्रिया में रूपान्तरित हो ऐसा आवश्यक नहीं है। प्रकारान्तर से, इच्छा

मात्र का कारण या नियमन से कोई अनिवार्य विरोध नहीं है। इसी प्रकार, नियमनवाद के विभिन्न प्रकारों (यथा–कारणात्मक नियमनवाद, तार्किक नियमनवाद पर और ईश्वरीय नियमनवाद) में से यदि कारणात्मक नियमनवाद दृष्टिपात करें तो मुख्य समस्या यह दिखयी देती है कि क्या घटनाएं इतिहास के प्ररिणाम हैं? यह सिद्धान्त मानता है कि भविष्य पूर्णतया भूतकालीन तथ्यों एवं प्रकृति के नियमों का संयोग है या, उसके द्वारा निर्धारित है। प्रकारान्तर से, भविष्य में होने वाली घटनाओं का पूर्वकथन संभव है। तथ्यों की प्रदत्त दशाओं एवं प्रकृति के नियमों के आधार पर भविष्य में 'निश्चित घटनाएं' ही प्रकट हो सकती हैं।

यदि यह मान भी लिया जाए कि नियमन आपातिक है तो भी वैज्ञानिक आनुभविक अनुसंधानों को–उनके वैज्ञानिक होने के कारण–भवितव्य की नियति का निश्चित संकेत करना चाहिए। यद्यपि दार्शनिक प्रश्न यह है कि इस नियमन का (चाहे वह आपातिक हो या निश्चित) हमारे स्वातंत्र्य पर क्या प्रभाव पड़ता है। यदि प्रकृति के नियम निश्चित नियम हैं तो जगत् भी एक निश्चित जगत् होगा, संभाव्य जगत् नहीं। यदि हम यह कहें कि जगत् प्रकृति के नियमों द्वारा शासित नहीं है, तो वे नियम चाहे कितने भी निश्चित क्यों न हों, नियमन का प्रश्न नहीं उठेगा। कतिपय आधुनिक वैज्ञानिक सिद्धान्त भी इस प्रकार का संकेत देते हैं। यथा– क्वांटम सिद्धान्त की कोपेनहेगेन–व्याख्या प्रस्तावित करती है कि स्वतः प्रकृति को नियमित करने वाले नियम अनियमनपरक हैं – अनियम हैं। साथ ही, यह भी प्रश्न उठता है कि क्या हम प्रकृति के सभी नियमों को समग्र रूप से जान सकने की स्थिति में हो सकते हैं? यदि हों भी तो उनसे वैध रूप से क्या ज्ञानात्मक निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं, एक दार्शनिक प्रश्न या चुनौती होगा।

यदि मान भी लिया जाया कि नियमनवाद एक सत्य सिद्धान्त है तो प्रश्न उठता है कि नियमनवादी आकारायण में इच्छा–स्वातंतत्र्य के लिए कोई अवकाश है अथवा नहीं। इस संदर्भ में संगतिवादी (कम्पेटिबिलिस्ट) इसका भावात्मक उत्तर देते हैं। अर्थात् नियतत्ववाद एवं इच्छा–स्वातंत्र्य दोनों मूलतः असंगत नहीं हैं। हमारी सभी इच्छाओं के कारणात्मक रूप से नियत होने पर भी हम इच्छाओं के चुनाव की दृष्टि से स्वतंत्र हैं। असंगतिवादी (इनकम्पेटिबिलिस्ट) नियमन को स्वतंत्र्य का विरोधी सिद्धान्त मानते हैं

क्योंकि यह नैतिक उत्तरदायित्व के सिद्धान्त के विपरीत है। ध्यातव्य है कि संगतिवादी एवं असंगतिवादी दोनों के दावे 'संभावना' के विषय में ही हैं। संगतिवादी की दृष्टि में कर्त्ता का किसी कार्य के परिप्रेक्ष्य में एक साथ नियति निर्धारित एवं स्वतंत्र होना संभव है। विसंगतिवादी की दृष्टि में ऐसी स्थिति की निषेधात्मक संभावना है। दोनों ही सिद्धान्त कोई स्पष्ट दावा नहीं कर पाते कि कर्त्ता, स्वयं कर्त्ता होने के कारण कोई इच्छा–स्वातंत्र्य रखता है अथवा नहीं। कतिपय निराशावादी विचारक यह भी मानते हैं कि इच्छा स्वातंत्र्य जैसी कोई चीज संभव नहीं है, किसी भी उपाय से कर्त्ता को स्वंतत्र बनाया ही नहीं जा सकता है (शापेनहावर, आइंस्टीन आदि)। देखा जाए तो प्राकृतिक–विज्ञानों का समूचा चिन्तन इच्छा स्वातंत्र्य को परोक्ष या अपरोक्ष रूप से नकारता है।

नियमनवाद एवं इच्छा–स्वातंत्र्य की समस्यापरकता से सम्बन्धित तर्कणा को, जिसमें कि कर्त्ता के स्वातंत्र्य को उसके कर्म का उपादान होने का पर्याय माना जाता है (ओरिजिनेशन आर्ग्यूमेण्ट), निम्न लिखित रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है :–

(क) कर्त्ता इच्छा–स्वातंत्र्य पूर्वक कर्म करता है यदि वह स्वयं कर्म का उत्पादक है।

(ख) यदि नियमनवाद सत्य है, तो कर्त्ता का प्रत्येक कर्म उन परिस्थितियों एवं घटनाओं का कारणात्मक फ़लन है जो कर्त्ता के प्रभाव–परिधि के वाह्य हैं।

(ग) यदि कर्त्ता का प्रत्येक कर्म उन परिस्थितियों एवं घटनाओं का फलन है जो कर्त्ता के प्रभाव–परिधि के वाह्य हैं, तो वह कर्म का उत्पादक नहीं है।

(घ) अतः यदि नियमनवाद सत्य है, तो कोई कर्त्ता अपने कर्म का उत्पादक नहीं है।

(ड़) इस प्रकार यदि नियमनवाद सत्य है तो कोई कर्त्ता स्वतंत्र नहीं है।

उपर्युक्त तर्कणा में प्रतिज्ञप्ति (ग) इसलिए सत्य है कि कर्त्ता के स्वतंत्र होने के लिए उसे अपने प्रभाव–परिधि से बाह्य घटनाओं से नियंत्रित नहीं होना चाहिए। प्रतिज्ञप्ति (स) परिभाषया सत्य है। अतः निष्कर्ष का निषेध करने हेतु प्रतिज्ञप्ति (क) का निषेध करना पड़ेगा। प्रकृत समस्या का यही तार्किक रूप है।

समकालीनों में फ्रैंकफर्ट महोदय ने स्वातंत्र्य को 'अन्यथा करने की योग्यता' के अर्थ में लेते हुए यह तर्क दिया है कि यदि स्वातंत्र्य की मांग इसलिए की जाती है कि नैतिक उत्तरदायित्व का पोषण किया जा सके, तो प्रश्न है कि क्या नैतिक बाध्यता की परिस्थितियों में कर्त्ता द्वारा 'अन्यथा करना' स्वतः नैतिक रह पायेगा? इसी प्रकार स्ट्रासन ने यह तर्क दिया हैं कि हमारी प्रतिक्रियात्मक अभिवृत्तियाँ यथा– क्षमा, कृतज्ञता, प्रेम इत्यादि, जो कि हमारे अन्तरवैयक्तिक संवादों में अनुस्यूत हैं, यह मानकर घटित नहीं होती है कि वे किसी प्रकार से पूर्वनिर्धारित या नियमित हैं। नियमनवाद का सत्य (यदि ऐसा है तो) भी हमारी उक्त अभिवृत्तियों की उपेक्षा नहीं कर सकता। और यदि, सैद्धान्तिक आधार पर हम किसी निरपेक्ष स्वतंत्रता की बात भी कर लें तो यह संभव नहीं है कि मनुष्य सब कुछ करने में सक्षम हो जाय।

विषय से सम्बन्धित उक्त वादों एवं धारणाओं के परिप्रेक्ष्य में जब हम डॉ. रस्तोगी की पुस्तक का अवलोकन करते हैं तो यह स्पष्ट हो जाता है कि समस्या का आद्योपान्त वैचारिक क्रमबद्धता के साथ प्रस्तुत करने का कार्य कितना श्रमसाध्य रहा होगा। इससे प्रकृत विषय के अध्ययन की दीर्घकालिक पृष्ठभूमि की भी झलक मिलती है। पुस्तक के प्रथम अध्याय 'इच्छा तथा उसका स्वातंत्र्य' में ही इच्छा का जिस गम्भीरता एवं दार्शनिक मेधा के साथ विश्लेषण किया गया है उससे समस्या के मूल तक तथा उसके समाधान तक पहुँचने का मार्ग भी स्पष्टता दिखायी देने लगता है। यथा, किसी क्रिया को ऐच्छिक कहने का अभिप्राय है कि उसका नियमन व्यक्ति के अन्दर से होता है, वाह्य प्रभावों से नहीं ..... (पृ. 3)। इस कथन द्वारा ही समस्या की गुत्थी को एक बड़े अंश तक सुलझा लिया गया है। जैसा कि स्पिनोजा ने कहा था कि 'मन इच्छा करने हेतु नियमित है (माइन्ड इज डिटरमिन्ड फॉर विलिंग)। पुनश्च, इच्छा आत्मा का गुण है अथवा उसका स्वभाव, इस विषय का भी उम्मीद विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है (पृ. 6)। प्रश्न यह नहीं है कि इस सन्दर्भ में किस मत को स्वीकार किया जाय, या किसकी स्वीकृति हेतु प्रबलतर तर्क उपलब्ध हैं, अपितु इस विषय से सम्बन्धित सभी मत इच्छा को आत्मा से सम्बन्धित कर (गुण मानकर या स्वभाव मानकर) इच्छा के मनोविज्ञान की उपेक्षा करते हैं। इन विभिन्न मतवादों में 'आत्मा' या 'आत्म' के अर्थ भी समान नहीं हैं। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से तो इच्छा के सम्भवन की प्रक्रिया में ही 'आत्म' का निर्माण होता है।[3]

अवधेय है कि लेखिका ने इच्छा को सन्दर्भ बनाकर का. शि. में स्वातंत्र्य के अभिप्राय को प्रामाणिक रूप से प्रस्तुत किया है (पृ. 7 तथा पाठक को इसी सन्दर्भ में ही शेष विवेचन को देखना चाहिए, न कि 'इच्छा' एवं 'स्वातंत्र्य' के किन्ही उधार लिए हुए अर्थों में। यद्यपि समीक्षाकार इस कथन से कि ''स्वातंत्र्य कहने का अभिप्राय है इच्छा की स्वतंत्रता व ऐच्छिक क्रिया कहने का अभिप्राय है स्वतंत्र्य क्रिया'' सहमत नहीं है, तथपि समीक्षा कर्म में स्वयं की समझ एवं व्याख्या का समावेश संदर्भ को बाधित कर सकता है। का. शि. में स्वतंत्रता क्रियाशीलता से भिन्न नहीं है, प्रत्युत् क्रिया के पदों में ही परिभाषित है (जैसा कि पश्चिम में लाइबनित्स ने समझा था)। पुनरपि, इच्छा का वर्गीकरण एवं उसके स्वरुप की व्याख्या एक तरफ पाश्चात्य दर्शनों के फैकल्टी–प्रारुप को अपना उपांग बना लेती है तथा दूसरी तरफ श्रेणी–प्रारुप को भी स्वयं में समाहित किये हुए है। साथ ही, इस प्रश्न का भी सफल समाधान उपलब्ध होता है कि कर्त्ता में स्वातंत्र्य है अथवा नहीं। कर्त्ता–क्रिया–इच्छा–स्वातंत्र्य भिन्न–भिन्न नहीं हैं। प्रश्न केवल आंशिकता एवं समग्रता का है। का. शि. का स्वातंत्र्य चिन्तन समग्रतापरक चिन्तन है। यहाँ स्वतंत्र शब्द की जो व्याख्या[4] की गयी है (पृ. 8) वह स्वतंत्रता के विषय में 'अन्यथाकरणीयता' एवं 'बाधाओं के अभाव' की द्विविधा को मिटा देती है। इस क्रम में उठाये गये नियमनवादी प्रश्नों के सन्दर्भ में 'नियामक' एवं 'निर्धारक' के भेद का स्पष्टीकरण भी द्रष्टव्य है। संकल्प–स्वातंत्र्य से कर्म–स्वातंत्र्य के अन्तर्सम्बन्धों का भी विश्लेषण किया गया है, जिसका पाश्चात्य दर्शनों में सर्वथा अभाव देखा जाता है। प्रायः पाश्चात्य दर्शन 'इच्छा', स्वातंत्र्य' एवं 'कर्म' के प्रत्ययों में उलझे हुए प्रतीत होते हैं तथा उसकी तथ्यता तक पहुँचते हुए दिखायी नहीं देते (यद्यपि पाश्चात्य मनोविज्ञान की स्थिति इससे भिन्न है)। स्वातंत्र्य के सम्बन्ध में उनके विश्लेषण चाहे कितने ही आकर्षक क्यों न हों, भारतीय दर्शनों की मूल ध्वनि– 'किसी से स्वातंत्र्य' (फ्रीडम फ्रॉम) के साथ न्याय नहीं कर सकते। संभवतः इसीलिए पाश्चात्य दर्शन स्वातंत्र्य को निर्विषयक नहीं मानते जबकि भारतीय चिन्तन के परिप्रेक्ष्य में स्वातंत्र्य का निर्विषयक होना सर्वोच्च मूल्य है। इस बिन्दु को लेकर भी का.शि. का स्वातंत्र्य निरुपण सर्वथा विलक्षण है।

का. शि. में स्वातंत्र्य का अभिप्राय ज्ञानात्मक व क्रियात्मक स्वातंत्र्य से है तथा प्रत्येक ज्ञान व क्रिया के लिए इच्छा अनिवार्य पूर्वदशा है। यहाँ पर हम अद्वैतवेदान्त की भाँति ज्ञान की वस्तुतंत्रता का प्रश्न उठाकर ज्ञान को

इच्छा से सर्वथा वाह्य नहीं कह सकते क्योंकि का.शि. में इच्छा ज्ञानात्मक शक्ति भी है। 'कर्तुम् अकर्तुम् अन्यथा वा कर्तुम्' स्वातंत्र्य का सूचक है, ज्ञानात्मक अराजकता का नहीं। यहाँ लेखिका द्वारा दिया गया स्पष्टीकरण भी द्रष्टव्य है कि, जहाँ न्याय दर्शन में 'जानाति इच्छति यतते' की बात की जाती है वहीं का.शि. में 'इच्छति जानाति यतते' की मान्यता की स्वीकृति है (पाद टिप्पणी 3, पृ. 46)। यही कारण है कि का.शि. में इच्छा शक्ति का उल्लेख ज्ञान का क्रिया शक्तियों के उल्लेख के पूर्व किया गया है। प्रकृत दर्शन की तत्त्वमीमांसा में जड़ तत्त्व के लिए कोई अवकाश नहीं दिखता। व्याख्या के क्रम में लेखिका ने निपुणतापूर्वक यह दर्शाया है कि ऐसा कोई जड़ तत्त्व संभव नहीं है जो पूर्णतया प्रकाश–विमर्श शून्य हो, फलतः स्वातंत्र्य का अंश भी सबमें अनुस्यूत है (पृ. 56)। यहाँ पर मैं इतना ही कहूँगा कि आइंस्टीन के परवर्ती भौतिक विज्ञान के पास भी अब कोई विकल्प नहीं रहा कि वह किसी चीज को वस्तुतः या परिभाषया जड़ (मैटर) माने। चाहे वह क्वांटम भौतिकी की व्याख्या हो, हाइजेनबर्ग का अनिश्चिता सिद्धान्त (थियरी ऑफ अनसर्टेन्टी) हो या ख–भौतिकी (स्पेस फीजिक्स) की दुविधा कि प्रकाश के कणों (फोटान) को तरंग माना जाय या कण (पार्टिकिल); जब तक हम ऊर्जा या चेतना की एक मात्र सत्ता (भले ही उसमें श्रेणियाँ माने) को स्वीकार नहीं करते, इन समस्याओं का कोई समाधान नहीं हो सकता। विज्ञान के समकालीन निष्कर्ष एवं उनकी व्याख्याएँ स्वतः नियतत्ववाद पर कुठाराघात करती हैं जो कि कभी विज्ञानों का परिभाषक था। यह कुठाराघात प्रकारान्तर से स्वातंत्र्य का पोषण है।

यहाँ पर यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि हम जड़ तत्त्व को ही आधारभूत तत्त्व क्यों न स्वीकार कर लें और चेतन को उसका रूपान्तरण या श्रेणियाँ; अथवा जड़ चेतन के स्पेक्ट्रम–प्रारूप को मान लें (जैसा कि कतिपय कॉग्निटिव साइंटिस्ट प्रस्तावित करते हैं)। मेरा तर्क यह है कि, सिद्धान्ततः या परिभाषया जड़ (डिफिनीशनली अनकांशस) ज्ञानात्मक रूप से अन्धकारपूर्ण (एपिस्टेमोलॉजिकल ब्लैकहोल) होगा, अज्ञेय होगा। क्योंकि, किसी चीज के ज्ञेय होने के लिए उसे चेतन विमर्श का भाग बनना होता है– चेतना की अभिव्यक्ति होना होता है। अतः ज्ञान और ज्ञेय में विभाजित जगत् में दोनों का सजातीय होना आवश्यक है और इसी से चेतना की प्राथमिक अपूर्वता सिद्ध होती है। परन्तु ध्यान रहे कि यहाँ मैं किसी फेनामेनालाजिकीय कंस्ट्रक्शन अथवा योगाचार विज्ञानवाद का संकेत नहीं कर रहा हूँ।

स्वांतत्र्य के विषय में अनेक भ्रान्तियों का शमन करते हुए का.शि. स्पष्ट रूप से स्वातंत्र्य को मात्रा के आधार पर दो वर्गों में विभक्त करता है (लौकिक प्राणी का स्वातंत्र्य तथा योगी का स्वातंत्र्य पृ. 68)। लौकिक प्राणी का स्वातंत्र्य भले ही कल्पित एवं सीमाओं में बद्ध हो, नियमनवाद के प्रश्न के परिप्रेक्ष्य में वहीं संदर्भगत है, योगी का स्वातंत्र्य नहीं क्योंकि वहाँ नियमन एवं बाध्यता का प्रश्न भी नहीं है। यद्यपि स्वातंत्र्य को सैद्धान्तिक तर्कों की कसौटी पर कभी भी कारणता में निहित नहीं माना जा सकता, यथापि का. शि. की विशेषता है कि वह ऐसे परम कारण की अवधारणा प्रस्तुत करता है जो स्वातंत्र्य के साथ संगति रखता है। स्वातंत्र्य परमकारण का स्वभाव ही है। यह चिन्तन पराकोटि के संगतिवाद (कम्पेटिबिलिज्म) की प्रतिपादना करता है।

लेखिका ने भारतीय दर्शन के विविध सम्प्रदायों में कारणता सम्बन्धी विचार की विशद एवं प्रामाणिक व्याख्या प्रस्तुत कर (अध्याय–9) नियमनवाद के विभिन्न प्रारूपों को उद्‌घाटित किया है तथा यह दर्शाने का सफल प्रयत्न किया है कि अन्यान्य सम्प्रदायों में उक्त विषय को लेकर जो समस्याएं अनसुलझी रह जाती है या जो दोष परिलक्षित होते हैं, उस प्रकार के दोषापादन की संभावना का.शि. के सन्दर्भ में क्यों नहीं बनती है। एकमात्र चैतन्य तत्त्व को स्वीकार करने के कारण (निमित्त एवं उपादान दोनों रूपों में) का.शि. अद्वैत वेदान्त की उन समस्याओं से बच जाता है जिसके लिए वहाँ 'अभिन्ननिमित्तोपादानवाद' की कल्पना की गयी है। पुनश्च, कार्यकारणभाव का प्रारूप स्वतंत्रेच्छानुप्राणित कार्यकारणभाव है (पृ. 216); फलतः 'दैवस्येष स्वभावोऽयमाप्तकामस्य का स्पृहा' जैसे आक्षेपों का अवकाश भी नहीं बचता।

यदि सार रूप में कहा जाय तो डा. रस्तोगी ने सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण तर्क के रूप में इस तथ्य का गहन तार्किक विश्लेषण प्रस्तुत करते हुए दर्शाया है कि, क्रिया को जबतक सत् का, परमतत्त्व का स्वभाव नहीं माना जायेगा तबतक उसे कारण के रूप में प्रतिष्ठित करना अत्यंत दुष्कर है, क्योंकि ऐसी दशा में कर्म से उसका सम्बन्ध हमेशा वाह्य ही रहेगा– सम्बन्ध घटित ही नहीं होगा। इसी कारण हम कतिपय दार्शनिक सम्प्रदायों में मायावाद, लीलावाद इत्यादि का ऊहापोह देखते हैं अथवा हारकर द्वैतवाद की शरण ले लेते हैं जहाँ उनकी तार्किक स्थिति और भी दयनीय हो जाती है। इसी कारण सत्कार्यवादी कारणमीमांसा का पोषक होने पर भी का.शि. सांख्यगत आरोपों

से मुक्त रहता है। सांख्य का चेतन तत्त्व कारण स्वभाव नहीं है। का.शि. दर्शन की इन्हीं दो जटिलतम समस्याओं–इच्छा स्वातंत्र्य एवं कार्यकारणभाव में समन्वय स्थापित करने का प्रयत्न करता है। यह समन्वय यांत्रिक या कृत्रिम नहीं है अपितु सत्ता के सर्जनात्मक स्वरूप और उसके विश्लेषण पर आधारित है। साथ ही, इसमें द्वैतवाद की समस्या का समाधान भी अनुस्यूत है, जैसा कि भद्रा लेखिक ने पुस्तक में विशद रूप से तथा 'समापन' अध्याय में सार रूप से उल्लेख किया है (पृ. 270–71)। स्वातंत्र्य को ही जब नियमनवाद का स्त्रोत दर्शाया है, तब वास्तव में फलतः नियमन वस्तुतः नियमन ही नहीं रह जाता है। नियति स्वातंत्र्य में अन्तर्भूत है। निष्कर्षतया यह स्थापित किया गया है कि कारणात्मक नियमनवाद के अभाव में परतत्त्व के आत्मस्वभाव 'स्वातंत्र्य' की प्रतीति संभव ही नहीं है (पृ. 276)। स्वातंत्र्य ही समस्त नियमनों का स्त्रोत है।

II

जब हम पुस्तक में विवेच्य विषयों का पुनरावलोकन करते हैं तो सर्वप्रथम उपस्थापित समस्या की समस्यापरकता (प्राब्लमेटाइजेशन) की संपरीक्षा की आवश्यकता का अनुभव होता है। क्या वास्तव में भारतीय दर्शनों के परिपेक्ष्य में नियमनवाद का प्रश्न उठाया जा सकता है? भारतीय चिन्तन–वाङ्मय की प्राचीनतम धाराओं में से एक–कर्मसिद्धान्त पर जब हम विचार करते हैं तो पाते हैं कि वह ऋत–आधारित स्वसंचालित (सेल्फ रेगुलेटरी) सिद्धान्त है, जिसमें कर्त्ता या कर्मफलदाता ईश्वर की अवधारणा हेतु कोई अवकाश नहीं है। कारणाश्रित 'प्रारब्ध' की दृष्टि से हम विवश हैं तथा 'क्रियमाण' हेतु स्वतंत्र। सांख्यादि दर्शनों में अचेतन ही कारण है एवं हेतु नानात्व ही जगत् वैविध्य क आधार है। न्याय आदि परम्पराओं में नियमनवाद का प्रश्न नहीं उठता क्योंकि असत्कार्यवाद सिद्धान्ततः ऐसी समस्याओं को उठने की दशाएं नहीं बनाता। अद्वैतवेदान्त में सृष्टि एवं क्रिया पर ही प्रश्न चिन्ह लगाया गया है। हम शीघ्रता में यह नहीं कह सकते कि ये सभी दर्शन नियतत्त्ववाद के प्रश्न के समाधान की योजना कर रहे है। बौद्ध आदि मनोवैज्ञानिकतावादी दर्शन कारण (प्रतीत्यसमुत्पाद) के ज्ञान को ही स्वातंत्र्य का आधार मानते हैं। कारण के ज्ञान में कोई कर्त्ता अनिवार्यतः आपातित नहीं होता है। का.शि. में भी परमशिवतत्त्व शुद्ध स्पन्द होने से स्वातंत्र्य में किसी बाधा का अवकाश नहीं देता कि हम सार्थक रूप से बाध्यता के अभाव की

बात करें। आत्मघूर्णन में आत्म से बाह्य कुछ भी नहीं है जिसके नियमित होने के विषय में सार्थक प्रश्न उठाया जा सके। स्वातंत्र्य एवं नियमनवाद का अवधारणात्मक विरोध भारतीय दर्शनों की ऐसी समस्या नहीं जो उनके अन्दर से उठती हो। तथापि, लेखिका का प्रयत्न इसलिए सार्थक है कि सामान्य बुद्धि के आधार पर भी स्वातंत्र्य एवं नियमन का गतिरोध देखा जा सकता है जिसके स्पष्टीकरण हेतु का.शि. का विवेचन इसी बहाने सम्पूर्ण भारतीय दर्शन में इस समस्या का विस्तरण हमारे ज्ञान में सार्थक वृद्धि करता है, नयी दृष्टि प्रदान करता है। वस्तुतः इस प्रकार के प्रयत्न भारतीय दर्शनों के समकालिन अध्ययनों में अधिक से अधिक होने चाहिए।

पुनः, समीक्षाकार यह प्रश्न उठाना चाहेगा कि क्या इच्छा स्वतः स्वतंत्र होती है? सामान्यतया जब हम इच्छा स्वातंत्र्य की बात करते हैं तो प्रायः इच्छा के परिकल्पनात्मक या वैचारिक रूप को ग्रहण करते हैं। उसके मनोविश्लेषण के स्थान पर उसके अवधारणात्मक स्वरूप से संघर्ष करते हैं। वस्तुतः इच्छा का अवधारणात्मक स्वरूप ही नियमनवाद की चुनौती का सामना करता है। किसी दर्शन का उद्देश्य अवधारणात्मक एवं तार्किक रूप से संगत प्रत्ययों का जाल बुनना नहीं है जिसे चतुराईपूर्वक अनेकानेक संभावित आक्षेपों से बचा लिया जाय, अपितु उसे तथ्यपरक भी होना चाहिए। इच्छा यदि किसी भी प्रकार से समस्या है तो उसके कारणों की खोज होनी चाहिए, उसका गौरवीकरण एवं परिकल्पनात्मक प्रतिष्ठा नहीं। का.शि. पूर्व प्रेक्षित रूप से काव्यात्मकता, किसी प्रिय के दर्शन से उत्पन्न आह्लाद आदि स्थितियों को स्वातंत्र्य का रूप मानता है (संदर्भ पाद टिप्पणी 4, पृ. 50)। इस प्रकार की कोई भी अभिव्यक्ति स्वतंत्र नहीं होती, अपितु अत्यन्त जटिल मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमि का परिणाम होती है-- अचेतन 'मनसिकारों' का फलन होती है। ये अभिव्यक्ति भ्रमवश, उनके कारणों के अज्ञान की दशा में, स्वतंत्र प्रतीत होती हैं।[5] मनुष्य जब बाह्य या अप्रिय कारणों से घटनाओं को घटित होते या नियंत्रित होते देखता है तो उसे नियमन की पीड़ा का अनुभव होता है तथा जब स्वयं अपनी इच्छा--प्रियता–वासना आदि कारणों से घटनाओं को प्रभावित करने की स्थिति में होता है तो उसे स्वातंत्र्य मानता है। कारण चाहे हमारे नियंत्रण के बाहर हो या हम उनसे नियंत्रित हों, केवल यही आपतित होता है कि घटनाएँ सकारण हैं। वस्तुतः घटनाओं का सकारण होना नियमन की पीड़ा का पर्याप्त हेतु नहीं है। घटनाओं के कारणों का

अज्ञान ही नियमन की पीड़ा या पारतंत्र्य है। कारणों के तह तक पहुँच जाना उसके अज्ञान से मुक्ति है। परतंत्रता किसी कारण 'से' है, अतः स्वातंत्र्य भी 'किसी से' स्वातंत्र्य (फ्रीडम फ्रॉम) है।

यद्यपि यह स्थापित करना कि, हमारे प्रत्येक मनोभाव, मनोवृत्तियाँ एवं व्यावहारिक अभिव्यक्तियाँ हमारे अचेतन मानसिक तंत्र का परिणाम होती हैं, अनेक प्रकार के अक्षेपों, यथा--मनोवैज्ञानिकतावाद (साइकलॉजिज्म), एवं अनेक चुनौतियों,यथा--व्यवहारवादी (बिहेवियरिस्ट) की ओर से आने वाली चुनौतियों को आमंत्रित करना होगा। सौभाग्यवश आधुनिक मानसशास्त्र इनका निर्णायक उत्तर देता हुआ दिखायी देता है। यह स्थापित करने का भी प्रयत्न नहीं किया जा रहा है कि तथ्य या घटनाएं मन के अधीन हैं या उस पर निर्भर हैं, अपितु मन से स्वतंत्र तथ्यों या घटनाओं का कोई ज्ञानात्मक महत्त्व (कॉग्निटिव वैल्यू) नहीं है। अतः 'क्यों' का प्रश्न भी मन से ही सम्बन्धित प्रश्न है, जगत् से नहीं। हम स्पन्द या क्रीड़ा के सिद्धान्त से 'जागतिक क्यों' के प्रश्न का समाधान करना चाहते हैं और वस्तुतः 'क्यों' के प्रश्न से बचना चाहते हैं, क्योंकि हर्षानुसारी स्पन्द में (जो कि परम सत् का स्वभाव ही है) क्यों का प्रश्न उठता ही कहाँ है? जागतिक क्यों का प्रश्न एक बौद्धिक प्रश्न है। यदि क्रीड़ा ईश्वर की स्वानन्दधनता है, उसका स्वभाव है, तो वस्तुतः प्रकृत मान्यता प्रश्न का ही विरलीकरण कर देती है। पुनश्च, अवधारणात्मक रूप से जिस स्व एवं पर के भेद के विघटन पर स्वातंत्र्य की अनुभूति आधृत है, उसमें स्वतंत्रता (अर्थात् परतंत्रता का अभाव) कितना सार्थक है?

जहाँ तक परम कारण में कर्त्तृत्व के आरोपण का प्रश्न है वह भी एक अप्रतिष्ठित तर्क पर आधारित है कि कर्त्तृत्व की धारणा कारण की धारणा से अधिक व्यापक है। स्थिति इसके विपरीत भी हो सकती है। सभी घटनाएँ सकारण हैं या प्रत्येक कार्य का कारण है, इस कारण प्रक्रिया से कारण श्रृंखला का ही आपादन होता है, अनिवार्यतः कर्त्ता का नहीं। जगत् का कार्यरूप होना उसके कारण का आपादन करता है, कर्त्ता का नहीं। कर्त्तृत्व की धारणा के बिना भी कारण प्रक्रिया को समझा जा सकता है। कर्त्तृत्व का आरोपण अपनी बुद्धि की सीमाओं का जगत् प्रक्रिया पर आरोपण है। 'तत्समर्थाचरणेनेति कारणमपि कर्त्तर्येव विश्रान्तम्' अथवा कारणत्व कर्त्ता में विश्रामित है (पृ. 225), महज आस्तिकता है तर्क नहीं। दुर्भाग्यवश भारतीय

दर्शन के कतिपय सम्प्रदायों में 'शुद्ध अहं' का अति गौरवीकरण किया गया है। कर्त्तृत्व अहं का ही परिचायक है,चाहे वह शुद्धादृष्टि के सन्दर्भ में कहा गया हो या अशुद्धा दृष्टि के (द्वैतमिश्रित अहं) संदर्भ में। यहाँ प्रायः अहं के व्यापक परिधि, उसके अनेक स्तरों एवं रूपों को पहचानने में प्रमाद किया जाता है और प्रत्यभिज्ञान का उद्देश्य अधूरा ही रह जाता है।

दर्शनशास्त्र विभाग
वैष्णो देवी विश्वविद्यालय
कटरा (जम्मू)

सन्दर्भ एवं पाद टिप्पणियाँ –

1. *प्लेटो, अरस्तू, देकार्त, एक्विनास, काण्ट आदि इस प्रारूप के प्रमुख समर्थक हैं।*
2. *"फ्रीडम ऑफ द विल एण्ड द कन्सेप्ट ऑफ परसन", प्रीबूम में पुनर्मुद्रित (1997), पृ. 167–183*
3. *इस विषय में बौद्ध दर्शन की लोकप्रिय समझ प्रायः उसके इस पाठ पर आधारित है कि आत्मा जैसा कोई स्थिर तत्त्व नहीं है। पालिग्रन्थों में स्पष्टतः आत्मवाद एवं नैरात्मवाद दोनों मतों की अनुपयुक्तता का संकेत किया गया है, क्योंकि हम सत्ता या उससे सम्बन्धित अपने ज्ञान को 'आत्म' या 'अनात्म' की कोटियों में नहीं रख सकते। जहाँ तक 'अनन्ता' का प्रश्न है वह आस्तिक दर्शनों के 'आत्म' एवं 'अनात्म' दोनों से भिन्न है।*
4. *इस सन्दर्भ में लेखिका ने स्वतंत्र शब्द के दो अर्थ प्रस्तुत किया है– (क) अपने कार्य में बिना असफल हुए अपने लक्ष्य की प्राप्ति तथा (ख) बिना किसी अन्य प्रेरक के अपने कर्म का सफल निष्पादन।*
5. *आधुनिक मानसशास्त्र ने इस तथ्य का सफल अनावरण किया है कि हमारे प्रत्येक व्यवहार, आचरण सम्बन्धी अभिव्यक्तियाँ (आउटपुट वैरिएबुल) वस्तुतः उन सूक्ष्म सूचनाओं को परिणमन हैं जो हम इन्द्रियों के माध्यम से स्वाभाविक वातावरण में ग्रहण करते हैं (इनपुट वैरिएबुल)। सभी मनोभाव इसी प्रकार की प्रक्रिया के विभिन्न चरण हैं। गौतम बुद्ध ने भी इसी प्रकार की व्याख्या का प्रयत्न किया था, किन्तु उस व्याख्या के विषय में लेखिका की दृष्टि (यथा–टिप्पणी पृ. 48) बौद्धदर्शन के लोकप्रिय पाठ पर आधारित प्रतीत होती है।*

ISSN 0974 0053